

धारा...45...ग्रंथांक (250)...

निन्दा-पुराण-गीताञ्जली

(सत्य-असत्य/निन्दा-प्रशंसा...)

(गद्य-पद्यमय)

समीक्षक-आचार्य कनकनन्दी

पुण्य स्मरण

आचार्य कनकनन्दी के प्रथम मार्गदर्शन गुरु आचार्य विमलसागर जी के जन्म शताब्दी उपलक्ष्य में

अर्थ सौजन्य (ज्ञानदात्री)

1. राजेश कुमार जीतमल जी जैन, ए-331, ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा (राज.) मो.-9414884755
2. विजय कुमार, संध्या जैन, पुष्पित, श्रुति, गिन्नी, लोकेश, मीनू, सम्यक्, प्रियम जैन, बाहुबली एन्क्लेव, मकान नं. 82, कड़कड़डूमा, दिल्ली-92, मो.-9891099254 (विजय), लोकेश-सी/3/333, यमुना विहार, दिल्ली-53
3. श्रीमती कमला देवी-श्री कन्हैयालाल जी, ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा

ग्रन्थांक-250

प्रतियाँ-500

संस्करण-2016

मूल्य-101/- रु.

सम्पर्क सूत्र व प्राप्ति स्थान

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 097832-16418

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

प्रस्तुत कृति का सार-प्रस्तावना

आगम-अध्यात्म संबंधी शोधपूर्ण कविता

सत्य-असत्य व निन्दा-प्रशंसा

समीक्षक-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., सायोनारा....., जय हनुमान.....)

सत्य व असत्य स्वरूप को जानो...निन्दा व प्रशंसा का रूप पहचानो...

सत्य व प्रशंसा को स्वीकारो...असत्य-निन्दा को शीघ्र परिहारो...

परम सत्य है वस्तु स्वरूपमय...स्वयं का सत्य है स्व-शुद्धात्माय...

इनका कथन है यथार्थ/(निश्चय) प्रशंसा...इससे विपरीत है निश्चय निन्दा/(असत्य)...(1)...

षट् द्रव्य होते परम सत्य स्वरूप...स्व-परम सत्य है स्व-शुद्धात्मा रूप...

शुद्धात्मा कथन है परम प्रशंसा रूप...गुण व गुणी की कीर्ति होती प्रशंसा...

इससे विपरीत है असत्यमय...व्यवहार-सत्य अथवा अशुद्धमय...

इनकी कीर्ति नहीं यथार्थ प्रशंसा...व्यवहार रूप या मिथ्या-प्रशंसा...(2)...

सही प्रशंसा होती पञ्चविध विनय...दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप विनय...

इनसे युक्त गुणियों का विनय...उपचार विनय सह पञ्चविध विनय...

ये है पञ्चविध मोक्ष हेतुक विनय...स्वर्ग-मोक्ष दायक सही विनय...

लोकानुवृत्ति काम-भय-अर्थ विनय...संसार हेतुक-अशुद्ध-लोक विनय...(3)...

लोक विनय नहीं है सही प्रशंसा...इससे न मिलती मोक्ष-अवस्था...

आध्यात्मिक गुणहीन न होते महान्...धन-जन-पदवी से न कोई महान्...

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि युक्त...ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-विद्वेष युक्त...

जो जीव होते हैं वे अशुद्ध-सत्य...उनके कथन होते निन्दा व असत्य...(4)...

विस्तार ज्ञान हेतु स्वाध्याय करो कृति का...आत्म विकास हेतु अनुकरण इसी का...

असत्य व निन्दा परिहार करो मानव...'कनक' का आह्वान सुनो विश्व मानव...(5)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 24.01.2016, रात्रि 8.38

आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव का गुरुकुल शान्ति निकेतन-आनंद धाम-आध्यात्मिक विश्वविद्यालय

-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल : कोई जब तुम्हारा हृदय तोड़ दे....)

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान परे...गहन-सूक्ष्म विषयों/(प्रश्नों) के उत्तर के लिए...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंऽऽऽ

ये गुरुकुल है व्यापक...वैश्विक वाला...जहाँ/(तुम्हारे, सभी) के लिए...

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान परे...(स्थायी)...

ये शान्ति निकेतन है..आनंदधाम...आध्यात्मिक विश्वविद्यालय महान्...

जिज्ञासु-शोधार्थी हैं आते यहाँ...समाधान पाते है व्यापक महा...

विद्या-कला-ज्ञान-गुण प्राप्त कर...प्रभावना करते बहुराष्ट्रीय...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंऽऽऽ...(1)...

इस आनंदधाम में सतत तप...स्वाध्याय व शोध नियमित चले...

आनंददायी है शिक्षा यहाँ...समन्वय/(जोड़ रूप) रूप है ज्ञान यहाँ...

प्राचीन से लेकर आधुनिक तक...यदि ज्ञान करना है सम्यक् तुम्हें...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंऽऽऽ...(2)...

आत्मानुशासन अलौकिक यहाँ...समयानुबद्ध व व्यवस्थित...

गुणी जनों का होता अनुमोदन...अभिवन्दन व अभिनन्दन...

अन्त्योदय से लेकर सर्वोदय...‘सुविज्ञ’ जनों को मिले है सहज...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंऽऽऽ...(3)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 10.01.2015, मध्याह्न 2.30

शान्ति निकेतन/आनंदधाम है आचार्यश्री कनकनन्दी जी का आध्यात्मिक विश्वविद्यालय

सृजयित्री-श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती

(चाल : आपकी नजरों ने.....)

है कनक गुरुकुल जगत् में...शान्ति निकेतन विद्यालय...

आध्यात्मिक विश्वविद्यालय...आनंद का धाम है...

है कनक गुरुकुल...(स्थायी)...

गुरु मुझे स्वीकार हैऽऽऽ आपका अनुशासनऽऽऽ
अनुशासन में रहकर हीऽऽऽ करूँ आत्म शासनऽऽऽ
आपकी निश्रा में रहकरऽऽऽ मिल रहा है सुख मुझेऽऽऽ
है कनक गुरुकुल...(1)...

विश्वविद्यालय के आचार्यऽऽऽ कनकनन्दी सूरीऽऽऽ

पठन पाठन कराते हैऽऽऽ पाठक व श्री सूरीऽऽऽ

कनक निकेतन में शान्तिऽऽऽ सतत मिलती है मुझेऽऽऽ

है कनक गुरुकुल...(2)...

अध्यात्म विश्वविद्यालय मेंऽऽऽ सभी विधा का ज्ञान हैऽऽऽ
अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तकऽऽऽ सूक्ष्म-गहन ज्ञान हैऽऽऽ
स्वात्मा के ज्ञान से अबऽऽऽ ध्यान 'मैं' का ही धरूँऽऽऽ
है कनक गुरुकुल...(3)...

देश-विदेश के सुविज्ञजनऽऽऽ आकर सूक्ष्म अध्ययन करेऽऽऽ

ज्ञान ज्योति प्रकाशित होऽऽऽ प्रचार विश्व में करेऽऽऽ

वात्सल्य धाम गुरु काऽऽऽ सदा ही जयवन्त हैऽऽऽ

है कनक गुरुकुल...(4)...

धैर्यशाली न्यायवन्तऽऽऽ भाग्यवन्त है गुरुऽऽऽ
आत्मा से परमात्माऽऽऽ बनने का बोध है शुरूऽऽऽ
सरल सहज आनंदधामऽऽऽ मिल रहा आनंद मुझेऽऽऽ
है कनक गुरुकुल...(5)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 08.01.2016, प्रातः तथा मध्याह्न 1.20

कनक गुरु की गीताञ्जली की महिमा

-श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती

(चाल : आने से जिसके आए बहार.....)

आने से जिनकी आयी बहार...काव्य/(गीत) गंगा की उड़ी फुहार/(गुलाल)

बड़ी मन भावन हैऽऽऽ कनक गीताञ्जली...

मधुर व गहन हैऽऽऽ विविध गीताञ्जली.../(नाना गीताञ्जली)॥ (ध्रुव)

गनुगुनाते हम सबऽऽऽ गुरु भक्ति में गाते है गीत...

हो... मन मयूर नाचेऽऽऽ सुनकर भाव पूर्ण ये गीत...

गुण गायेऽऽऽ गुण पायेऽऽऽ महिमा निराली है...कनक गीता...(1)...

पूर्व भव में गुरु नेऽऽऽ सातिशय पुण्य कमाया...

हो... आध्यात्म भावों सेऽऽऽ सातिशय फल है पाया...

ग्रंथ रचे...काव्य रचेऽऽऽ लेखनी अद्भुत है...कनक गीता...(2)...

अतिशय क्षेत्र सीपुरऽऽऽ काव्य गंगा हुई प्रवाहित...

होऽऽऽ गीताञ्जली सरिता/गंगाऽऽऽ बहकर देश-विदेश में फैली...

आत्म शक्ति...स्व शक्तिऽऽऽ मैं (निज) का बोध कराती है...कनक गीता...

/(ब्रह्माण्ड दिखाती है...)...कनक गीता...

/(अर्द्धशतक ओर चली)...कनक गीता...(3)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 09.01.2016, मध्याह्न 1.30

अलौकिक वृत्तिधारी आध्यात्मिक गुरुवर के अनुभव की महिमा

-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल : छोड़ो कल की बातें.....)

सुनो अनुभव की बातें...अनुभव की बात निरालीं...

आत्म अनुभवी कनक गुरु की...सुन लो व्यापक वाणी...

विश्व हितकारी...सर्वोदय वाणी...अन्त्योदय वाणी...कल्याणकारी...(ध्रुव)...

धर्म-दर्शन-विज्ञान को जो...जोड़ चुके हैंऽऽऽ

प्राचीन व आधुनिक ज्ञान के...प्रेरक जो हैंऽऽऽ

प्राचीन गुरुकुल के पूज्य...आचार्यवर हैंऽऽऽ

आधुनिक विज्ञान के गूढ़ प्रवक्ता जो हैंऽऽऽ

नवाचार है...नवोन्मेष है...हैं तात्कालिक ज्ञानीऽऽऽविश्व हितकारी...(1)...

अलौकिक वृत्ति इनकी जो जन समझ न पातेSSS
आग्रही अनुभवहीन वे जन हैं होतेSSS
शोध-बोध करने वाले आत्मिक/(वैश्विक) विज्ञानीSSS
इनके चरणों में आकर नतमस्तक होतेSSS
अनुभवी ज्ञानी गुरुवर की...पाते व्यापक वाणीSSS विश्व हितकारी...(2)...

आओ हम सब सत्य-तथ्य का शोध करेंSSS
अपूर्व/(सम्यक्) अर्थों में हम ज्ञान का बोध करेंSSS
आध्यात्म (व) विज्ञान का समन्वय करेंSSS
पूरब से पश्चिम को जोड़ आधुनिक बनेंSSS
उदार सत्यग्राही बनकर...होंगे पुरोगामीSSS विश्व हितकारी...(3)...

देश-विदेश के वैज्ञानिक जन...यहाँ भी आतेSSS
भौतिक से लेकर आध्यात्मिक...ज्ञान है पातेSSS
अलौकिक गणित व ब्रह्माण्डीय विज्ञानSSS
बहुआयामी विषयों का जोड़ रूप ज्ञानSSS
ज्ञानी-विज्ञानी 'सुविज्ञ' जन...अनुभव रत्न है पातेSSS विश्व हितकारी...(4)...

नन्दौड़, दिनांक 09.11.2015, मध्याह्न 1.50

समस्त वाद-विवाद पर वैश्विक आध्यात्मिक गुरुकुल

-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल : छोड़ो कल की बातें.....)

करो तथ्य की बातें...सत्य समन्वयकारी...
वैज्ञानिक गुरु कनकनन्दी की...समझो व्यापक/(आगम) वाणी...
हे! आधुनिक...प्रगतिवादी...अनेकान्तवादी...उदारभावी...(स्थायी)...

आओ हम सब जिज्ञासु...विद्यार्थी बनेSSS
समग्र सत्यग्राही बनकर...शोध/(बोध) करेंSSS
संकीर्ण वाद-विवाद...द्वंद्व से परेSSS
तात्त्विक ज्ञान से...परम सत्य का बोध करेंSSS
आधुनिक विज्ञान व आगम-अनुभव की वाणी...अनेकान्तवादी...(1)...

विश्वविद्यालय स्वरूप...इनका गुरुकुल देखोSSS
प्राचीन से आधुनिक...ज्ञान-विज्ञान को सीखोSSS
आत्मा को परमात्मा बनाने की...शिक्षा/(विद्या) प्रमुखSSS
अन्य समस्त विषय ज्ञान...आनुषंगिकSSS
अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक के...परम सत्य के ज्ञानी...अनेकान्तवादी...(2)...

आओ हम सब...व्यापक दृष्टिकोण बनायेSSS
संकीर्ण पंथ-मत-भाषा...पूर्वाग्रह छोड़ेSSS
भेद-भाव बिन...स्व-स्व योग्यता अनुसारSSS
कनक गुरुकुल के...प्राथमिक विद्यार्थी बनेंSSS
ऐसे सरल 'सुविज्ञ' जन...प्रगतिशील बनें ज्ञानी...अनेकान्तवादी...(3)...

मेरी कविताओं के विषय व उद्देश्य (आत्महित व विश्व मंगलकारी 'कनक' की कविता)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की.....)
मेरी कविताएँ न केवल गाने के हेतु, मनोरंजन या भीड़ जुटाने हेतु।
नाम कमाना या धन कमाने हेतु, मेरी कविताएँ सत्य/(तथ्य) कथन हेतु।।
मेरी कविताएँ न प्रतिस्पर्द्धा हेतु, छंद अलंकार या वाक् विलास हेतु।
परनिन्दा अपमान हेतु न मेरी कविता, समता-शांति हेतु है मेरी कविता।। (1)
कामुक श्रृंगार हेतु न मेरी कविता, संकीर्ण पंथ-मत परे मेरी कविता।
संकीर्ण राजनीति-भाषा-राष्ट्र से परे, मेरी कविताएँ सर्व बंधन परे।।
कोई माने या न माने (से) परे कविता, कोई गाये या न गाये परे कविता।
कोई जाने या न जाने से परे कविता, आत्म-संबोधन स्वान्त सुखाय कविता।। (2)
भावना-अनुभव की अभिव्यक्ति कविता, कल्पना संवेदनशील मेरी कविता।
आत्मविशुद्धि आत्मविकास की कविता, सनम्र सत्यग्राही जिज्ञासु वृत्ति कविता।।
स्वाध्याय मनन हेतु बनी मेरी कविता, शुभोपयोग एकाग्रता हेतु बनी कविता।
स्व-पर-विश्व मंगलकारी मेरी कविता, गुणग्राही उदारमन युत कविता।। (3)

अपेक्षा-उपेक्षा व प्रतीक्षा रिक्त, लंद-फंद-द्वंद रिक्त मेरी कविता।
 समीक्षा समन्वय युक्त मेरी कविता, सर्वोदय-अन्त्योदय भाव युक्त कविता।।
 अंधानुकरण नकल से रिक्त कविता, अज्ञान-मोह दूर हेतु बनी कविता।
 निष्पक्ष सापेक्ष दृष्टि युक्त कविता, धर्म-दर्शन-विज्ञान संयुक्त कविता।। (4)
 प्राचीन-अर्वाचीन व पौर्वात्य-पाश्चात्य, शोध-बोध-खोज अनुभव से युक्त।
 विविध विधाओं से युक्त मेरी कविता, आत्महित हेतु 'कनक' बनाये कविता।। (5)

आत्म-सम्बोधन

कनक तू तो अति अल्पज्ञ (अल्प दो (2) ही ज्ञान)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे....)

जिया रे! (कनक रे!)..तू ऐसा गर्व/(मद, घमण्ड) न करोSSS

मैं तो सब कुछ जान लिया/(गया) हूँSS ऐसी विचार न करोSSS जिया रे!...(ध्रुवपद)...

सर्वज्ञ अतिरिक्त और कोई भीSSS न जानते सर्व विषय/(संपूर्ण ज्ञेय)SSS

गणधर भी सब कुछ न जानतेSSS तू तो अति अल्पज्ञSSS

बनना है तुझे सर्वज्ञSSS सर्वज्ञ हेतु कर प्रयत्नSSS जिया रे...(1)...

तीन ज्ञानधारी तीर्थंकर प्रभु भीSSS जानते न संपूर्ण ज्ञेयSSS

चार ज्ञानधारी तीर्थंकर मुनि भीSSS जानते न संपूर्ण ज्ञेयSSS

चउषठ ऋद्धि सम्पन्नSSS तुझमें अल्प दो (2) ज्ञानSSS जिया रे...(2)...

चार ज्ञानधारी गणधर मुनि भीSSS सर्वज्ञ वाणी पूर्ण न समझतेSSS

अनंतवाँ एक भाग ही समझतेSSS अनंत बहुभाग न समझतेSSS

तू क्या जाने पूर्ण आगमSSS तू न जाने स्व/(मैं) को पूर्णSSS

तू न जाने अणु भी पूर्णSSS जिया रे...(3)...

ज्ञान का बहुमान अवश्य करो तूSSS करो तू ज्ञान/(ज्ञानी) विनयSSS

आध्यात्मिक ज्ञान कर रहा तूSSS इस हेतु स्व को मानो धन्यSSS

श्रुत-गुरु का गुणगान करSSS ज्ञान मद कभी न करSSS जिया रे...(4)...

जिज्ञासु विनयी विद्यार्थी बनोSSS करो है स्वाधयय व मननSSS

शोध-बोध व प्रयोग करो तूSSS करो तू लेखन-ज्ञानदानSSS
(किन्तु) ख्याति पूजा लाभ विहीनSSS स्व-पर (विश्व) हित हेतु प्रवचनSSS
जिया रे...(5)...

विनय युक्त स्वाध्याय ज्ञानदान सेSSS ज्ञान तेरा होगा विकासSSS
परंपरा से तू सर्वज्ञ बनेगाSSS तब तो न होगा ज्ञान मदSSS
अल्पज्ञ तू क्यों करे मदSSS सर्वज्ञ से शिक्षा प्राप्त करSSS जिया रे...(6)...

तेरा स्वरूप तो सर्वज्ञ सम हैSSS कर्मों ने किया (है) पराभूतSSS
कर्माधीन तू दास/(अल्पज्ञ) होकरSSS गर्व करना न शोभास्पदSSS
सर्वज्ञ होने पर शोभास्पदSSS 'कनक' प्राप्त कर सर्वज्ञ पदSSS जिया रे...(7)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 19.01.2016, रात्रि 7.52

मेरा मूल्यांकन करता हूँ आध्यात्मिक दृष्टि से

(मेरे मूल्यांकन के लिए अज्ञानी मोही असमर्थ)

(राग : छोटी-छोटी गैया....., दुनिया हँसे.....)

मेरा मूल्यांकन मैं ही करूँ, आध्यात्मिक दृष्टि से मुझसे करूँ।

सर्वज्ञ जानते हैं पूर्ण रूप से, अज्ञानी मोही से मूल्यांकन न करूँ।। (स्थायी)

निश्चयनय से मैं हूँ सिद्ध, अनंत ज्ञान-दर्शन सुख समृद्ध।

व्यवहार से भले मैं अशुद्ध, तन-मन-इन्द्रिय व कर्म आबद्ध।। (1)

यथाहि मिट्टी से आबद्ध हीरा, मिट्टी रूप न होता है तथापि हीरा।

तथाहि मैं हूँ चिन्मय रूप, तन-मन-इन्द्रिय परे स्वरूप।। (2)

अल्पज्ञ/(छद्मस्थ) न जानते अमूर्तिक रूप, अतएव न जानते मेरा स्वरूप।

शिकारी शिकार को देखे भोजनमय, तथाहि अज्ञानी मुझे जाने भौतिकमय।। (3)

भौतिक से मूल्यांकन मेरा न होता, सच्चिदानंदमय मूल्य जो होता।

अनंत चक्रवर्ती व इन्द्र सहित, मेरा मूल्यांकन हेतु न होते समर्थ।। (4)

मैं नहीं हूँ कोई भौतिकमय, तन-मन-इन्द्रिय व जड़ नाममय।

जिसका मूल्यांकन करे व्यापारी/(जन), राग-द्वेष-मोह-कामासक्त जन।। (5)

आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र्य द्वारा, समता-शांति व सत्य के द्वारा।

ध्यान-अध्ययन व निस्पृह द्वारा, क्षमा मार्दव व आर्जव द्वारा॥ (6)

शौच संयम व धैर्य के द्वारा, मूल्यांकन करता हूँ भावना द्वारा।

उदार भाव आत्म अनुशासन द्वारा, मूल्यांकन करता हूँ (मैं) लक्ष्य के द्वारा॥ (7)

बाह्य आडंबर सत्ता संपत्ति द्वारा, ख्याति पूजा लाभ व प्रसिद्धि द्वारा।

मेरा मूल्यांकन न करूँ मैं कभी, इसी के द्वारा न करूँ अन्य से कभी॥ (8)

यह सब अनात्मा व भौतिक दृष्टि, रागी मोही तृष्णावान् कामी की दृष्टि।

इससे मेरा मूल्यांकन होगा विपरीत भी, 'कनक' को अमान्य ऐसी प्रवृत्ति/(कुदृष्टि)॥ (9)

मेरी भावना व विपरीत जीव प्रति मंगल कामना

(सभी जीव सुखी व पावन बने ऐसी मेरी भावना के अनुसार यदि कोई न बने तो भी उसके प्रति कुभाव नहीं किन्तु मंगल भावना ही करूँ!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : कहाँ भी नहीं, यहाँ ही सही...सुख-दुःख व जन्म-मरण (बंगला)....., तेरे प्यार का आसरा....., सायोनारा....., यमुना किनारे.....)

सतत विश्व कल्याण की मैं करूँ भावना...उदार निःस्वार्थमय शुभ भावना...

सभी जीव सुखी बने, बने मोक्षगामी...पाप ताप त्यागकर बने धर्मप्रेमी...(ध्रुव)...

हिंसा झूठ चोरी व कुशील परिग्रह...क्रोध मान माया लोभ भय व मोह...

ईर्ष्या द्वेष घृणा व निन्दा अपमान...त्यागकर बने सभी शांत-शालीन...

अन्याय अत्याचार शोषण मिलावट...जमाखोरी भ्रष्टाचार आतंकवाद...

फैशन-व्यसन व दिखावा आडम्बर...त्यागकर सभी पाले पावन सदाचार...(1)...

संकीर्णता भेद-भाव वैर (व) विरोध...ऊँच-नीच तुच्छ भाव क्रूरता कुभाव...

समस्त विषमताएँ समस्या त्यागकर...सभी बने सत्यग्राही विनम्र उदार...

इसी हेतु भावना व मनन करता हूँ...लेखन प्रवचन ध्यान भी करता हूँ...

यदि कोई ऐसा बने प्रसन्न होता हूँ...अनुमोदना प्रशंसा व आशीर्वाद

/(सम्मान, पुरुस्कार) देता हूँ...(2)...

यदि कोई ऐसा सुभाव न करता...सद्व्यवहार उत्तम भावना न करता...

उससे भी मैं घृणा-द्वेष न करता...समता भाव से ही (उसका) मंगल चाहता...

सधर्मी-विधर्मी या स्वदेशी-विदेशी...किसी भी जाति पंथ मत भाषा-भाषी...
 कीट-पतंग या पशु-पक्षी-मानव...सभी के प्रति ही ऐसा करता शुभ भाव...(3)...
 अन्यथा संक्लेश ईर्ष्या द्वेष घृणा होते...भेदभाव पक्षपात वैर-विरोध होते...
 अन्याय अत्याचार व विद्रोह होते...आक्रमण युद्ध आतंकवाद भी होते...
 धर्म जाति पंथ मत भाषा राजनीति...काला गोरा व राष्ट्र विचार-धारा प्रभृति...
 बलपूर्वक जब-जब थोपना होता है...रक्त-रंजित मानव तब-तब होता है...(4)...
 तीर्थंकर बुद्ध ईसा मसीह आदि...ऐसी दुष्प्रवृत्ति में न करते प्रवृत्ति...
 ऐसी प्रवृत्ति से ही मिलती मुझे शांति...अतः ऐसी प्रवृत्ति करे 'कनकनन्दी'...

सन्दर्भ-

विश्व के विविध जीवों के प्रति आत्मिक भावना

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदाममात्मा विदधातु देव॥ (1)

O lord! make myself that I may always have love for all beings, pleasure in the company of learned (good) men, unstinted sympathy for those in pain, and tolerance towards those perversely inclined.

भावार्थ-हे भगवान्! विश्व के सम्पूर्ण जीवों के प्रति मैत्री-भाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखी जीवों के प्रति कृपा-भाव, विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भाव मेरा सदा हो।

प्राप्त शिक्षाएँ-स्व-पर-विश्व कल्याण के लिए हमें सतत उपर्युक्त भाव-व्यवहार करना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त केवल बाह्य शिक्षा-धर्म-संविधान-प्रवचन-चर्चा-कानून-विज्ञान-सत्ता-संपत्ति से भी स्व-पर-विश्व कल्याण संभव नहीं है। उपर्युक्त भाव-व्यवहार ही यथार्थ से शिक्षा-धर्म-संविधान-कानून-विज्ञान-आध्यात्मिक भावना आदि है। इससे ही सर्वोदय-साम्यवाद-विश्वमैत्री-विश्वशांति-निरस्त्रीकरण, पर्यावरण सुरक्षा, सर्वजीव अधिकार, मानवाधिकार संभव है। मैत्री भाव से प्रत्येक जीवों की रक्षा होती है, तो प्रमोद भाव से गुण ग्रहण होता है। कृपा भाव से दूसरों की सहायता होती है तथा माध्यस्थ भाव से वैर, विद्वेष, कलह, हत्या, आतंकवाद, युद्ध तक नहीं होता है।

समस्त अनुकूल-प्रतिकूलताओं में साम्य भाव
दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वन वा।
निराकृताशेष ममत्वबुद्धेः, समं मनोमेऽस्तु सदापि नाथ॥ (3)

O lord! may my mind, after a complete destruction of all sense of attachment, be always at equilibrium, in pleasure and pain, among friends and foes, in gain and loss, at home and forest.

भावार्थ-हे प्रभु! मेरा मन समस्त ममत्व बुद्धि (मोहासक्ति) से रहित होकर दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोग, भवन-वन में सदा समता में रहे।

प्राप्त शिक्षाएँ-अनुकूलता-प्रतिकूलता, आकर्षण-विकर्षण, शत्रुता-मित्रता आदि में अप्रभावित होकर संतुलित-तटस्थ रहने से मन में भाव में तनाव-क्षोभ-चञ्चलता-अस्थिरता आदि दुःख कारक तत्त्व उत्पन्न नहीं होते हैं, पापकर्म का आस्रव-बंध नहीं होता। इससे व्यक्ति शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक दुःख, रोग, समस्या से मुक्त हो जाता है। इसके साथ-साथ व्यापक साम्यभाव से व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, वैश्विक समस्या-संघर्ष-युद्ध आदि समाप्त हो जायेंगे। ऐसा ही भाव-व्यवहार दैनिक चर्या, भोजन, जीवन चर्या, गृह, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व में, प्रकृति आदि में संतुलन होना स्वास्थ्य, सुख-शांति, विकास, व्यवस्था आदि के कारण है।

(मेरी आध्यात्मिक अनुभव संबंधी कविता)

मैं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या देखता हूँ?!

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आत्मशक्ति....., क्या मिलिये ऐसे लोगों से.....)

आध्यात्मिक दृष्टि से जब मैं देखता हूँ संसार को।

सिद्ध स्वरूप/(चिन्मय रूप) देखता हूँ संसार के हर जीव को॥ (धृ.)

इसी दृष्टि से कोई न छोटा-कोई न बड़ा होता है।

कोई न उच्च कोई न नीच, भेद-भाव कुछ न होता है॥

कोई न पशु-कोई न नारकी, कोई न देव होता है।

कोई न मनुष्य कोई न स्त्री, कोई न नपुंसक होता है॥ (1)

कोई न धनी कोई न निर्धनी, कोई न भिखारी होता है।

कोई न शत्रु कोई न मित्र, अपना-पराया न कोई होता है।।

जो कोई शरीर-इन्द्रिय-मन को, अपना/(मैं) स्वरूप मानता है।

उसकी प्रज्ञा-श्रद्धा को मैं, अंध श्रद्धादि रूप/(अहंकार रूप) मानता हूँ।। (2)

सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि डिग्री को, मेरी है ऐसा जो मानता है।

उसकी ऐसी परिणति को मैं, ममकार रूप/(मोह रागरूप) मानता हूँ।।

धर्म जाति राष्ट्र भाषादि के कारण, अन्य से जो वैरत्व करते।

ऐसे भाव-व्यवहार को मैं, राग-द्वेष-मोह रूप मानता हूँ।। (3)

समता शांति आत्मविशुद्धि बिना, जो स्वयं को धार्मिक मानता है।

उसके ऐसे भाव को मैं अज्ञान, मोहाछन्न रूप से मानता हूँ।।

जन्म-मरण सांसारिक सुख-दुःखादि को मैं विभावमय देखता हूँ।

यथा आकाश के बादल-रंगादि को मैं, भौतिकमय जानता हूँ।। (4)

सच्चिदानंद-सत्य-शिव-सुंदरमय, हर जीव को मैं मानता हूँ।

ऐसा स्वरूप हर जीव प्राप्त करे, ऐसी भावना मैं ('कनक') भाता हूँ।। (5)

नन्दौड़, दिनांक 20.11.2015, प्रातः 7.00

आत्म सम्बोधन-।

(मेरी समता से यदि कोई स्वयं दुःखी-पापी हो तो मैं दोषी नहीं!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे....)

जिया रे! तू आत्म कल्याण करोSSS

समता-शांति-निस्पृहता सेSSS आत्म विशुद्धि करोSSS(ध्रुव)...

राग-द्वेष-मोह-काम त्यागकरSSS समता भाव धरोSSS

ख्याति-पूजा-लाभ-तृष्णा त्यागकरSSS निस्पृह भाव धरोSSS

शान्ति से विशुद्धि करोSSS जिया रे...(1)...

इसी से तेरा होगा आत्म कल्याणSSS यह निश्चय करोSSS

अन्य सभी लंद-फंद त्यागकरSSS एकांत-मौन धरोSSS

'अहं' का ध्यान करोSSS जिया रे...(2)...

संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागकरSSS निर्विकल्प साधना करोSSS

आकर्षण-विकर्षण-विभाव त्यागकरऽऽऽ विराग भाव धरोऽऽऽ
सरल-सहज बनोऽऽऽ जिया रे...(3)...

अन्य की चिन्ता व निन्दा त्यजकरऽऽऽ आत्मा का ध्यान करोऽऽऽ
कौन क्या माने-कौन क्या करे/(कहे)ऽऽऽ इस से परे चलोऽऽऽ
स्वयं में स्वयं को तुलोऽऽऽ जिया रे...(4)...

स्वयं का कर्ता-भोक्ता स्वयं तूऽऽऽ स्वयं का उद्धार करोऽऽऽ
अन्य के अयोग्य व्यवहार के कारणऽऽऽ तू न अयोग्य/(कुभावी) बनोऽऽऽ
'अहं' में ही 'अहं' को पा लोऽऽऽ जिया रे...(5)...

तथापि यदि कोई तुझे निमित्त करऽऽऽ बने पापी व दुःखीऽऽऽ
उससे न होगा तेरा आत्म पतनऽऽऽ नहीं होगा पाप बंधनऽऽऽ
आत्म विशुद्धि के कारणऽऽऽ जिया रे...(6)...

आध्यात्मसार यह कर्म सिद्धांतऽऽऽ यह अलौकिक रहस्यऽऽऽ
मोक्षमार्ग यह मोह क्षोभ रहितऽऽऽ परम सकारात्मक भाव/(सुनियोजित लापरवाह)ऽऽऽ
'कनक' का आत्म स्वभावऽऽऽ जिया रे...(7)...

आत्म सम्बोधन-॥

(मैं (स्वयं) के द्वारा मैं (स्वयं) को समझूँ
किन्तु अन्य प्रति संवत्सेश न करूँ!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे....., सायोनारा.....)

जिया रे! तू स्वयं को सही समझऽऽऽ

कौन क्या समझे...कौन क्या न समझेऽऽऽ इसका विकल्प त्यजऽऽऽ...(ध्रुव)...

सिद्धों को संसारी जीवऽऽऽ देख न पाते स्व-इन्द्रियों सेऽऽऽ
तथापि सिद्धों का अस्तित्वऽऽऽ न हो जाता अवास्तविकऽऽऽ
वे स्वयं में ही परिपूर्णऽऽऽ जिया रे...(1)...

अनादि काल से हर जीव मेंऽऽऽ अनंत कर्म आवृत्त हैंऽऽऽ
जिसके कारण हर जीव कीऽऽऽ होती अलग प्रवृत्ति हैऽऽऽ
यह शक्ति है कर्म कीऽऽऽ जिया रे...(2)...

सभी जीवों के भाव-व्यवहारऽऽऽ न होते एक समानऽऽऽ
हर जीव के भाव-व्यवहार भीऽऽऽ न होते सदा समानऽऽऽ
यह ही संसार स्वरूपऽऽऽ जिया रे...(3)...

अनंत जीव हैं अनंत भी कर्मऽऽऽ भाव भी होते तदनुकूलऽऽऽ
अनंत तीर्थंकरों से भीऽऽऽ हुआ न सभी का उद्धारऽऽऽ
स्व का करो उद्धार अतःऽऽऽ जिया रे...(4)...

स्व-उद्धार तू पहिले करोऽऽऽ अन्य प्रति करो मंगल कामनाऽऽऽ
किन्तु अन्य हेतु न करोऽऽऽ स्वयं की ही आत्म विराधनाऽऽऽ
स्वयं को पावन बना रेऽऽऽ जिया रे...(5)...

तू तो चेतन अमूर्तिकमयऽऽऽ सच्चिदानंद तेरा रूपऽऽऽ
तेरे स्वरूप को मोही न जानेऽऽऽ उन्हें क्या देना उपदेशऽऽऽ
मोही का लक्ष्य अनात्म रेऽऽऽ/(तेरा लक्ष्य अध्यात्म रेऽऽऽ) जिया रे...(6)...

मोही तो अनात्म सत्ता-संपत्तिऽऽऽ प्रसिद्धि को माने अपनाऽऽऽ
तन-मन-इन्द्रिय राग-द्वेष-मोह कोऽऽऽ नहीं जानता/(मानता) है अनात्माऽऽऽ
उन्हें क्या तू देगा उपदेशऽऽऽ/(वे क्या जाने/(माने) तेरा उद्देश्यऽऽऽ) जिया रे...(7)...

स्व-प्रकाशी बनो सूर्य समऽऽऽ स्वयं ही फैले प्रकाशऽऽऽ
अन्य से अप्रभावी बनो सूर्य समऽऽऽ मोह क्षोभ शून्य साम्यऽऽऽ
साम्य ही तेरा स्वभावऽऽऽ/('कनक' का निज स्वभावऽऽऽ) जिया रे...(8)...

आचार्यश्री की प्रतिज्ञा व ससंघ के नियम

मेरे (आ. कनकनन्दी) एकांत-मौन-समता-निस्पृहता के कारण
(मुझे परम सत्य व स्वात्मा (मैं) की उपलब्धि चाहिए)

(मैं (आ. कनकनन्दी) 5 प्रकार के स्वाध्याय
के अतिरिक्त प्रायः मौन रखता हूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तेरे प्यार का आसरा.....)

परम सत्य को मैं जानना चाहता हूँ...उसी हेतु शोध-बोध-चर्चा चाहता हूँ...

ध्यान-अध्ययन व मनन-चिन्तन...लेखन-प्रवचन व प्रचार चाहता हूँ...(स्थायी)...
 परम सत्य में भी स्व-तत्त्व चाहता हूँ...चिदानंदमय आत्म तत्त्व चाहता हूँ...
 शुद्ध-बुद्ध-परमानंद को चाहता हूँ...समता शांति व निस्पृहता चाहता हूँ...
 ख्याति पूजा लाभ व द्वंद्व-फंदों से...राग द्वेष मोह व ईर्ष्या तृष्णा से...
 संकीर्ण भेद-भाव पंथ व मतों से...अतः दूर रहता हूँ वाद-विवादों से...(1)...
 आडम्बर ढोंग व दिखावा काम से...सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि नाम से...
 संकीर्ण जाति भाषा समाज राष्ट्र से...दूर ही रहता हूँ मैं संक्लेश कामों से...
 सर्वजन प्रसिद्ध ज्ञान व विज्ञान से...संकीर्ण कट्टर रूढ़ि परम्पराओं से...
 लोकानुरञ्जन व भीड़ जुटाने से...दूर ही रहता हूँ (मैं) संकीर्ण स्वार्थ से...(2)...
 परनिन्दा अपमान चिन्ता विवादों से...कर्तृत्व हस्तक्षेप व दादागिरी से...
 छिद्रान्वेषण परोपदेशी पाण्डित्य से...दूर ही रहता हूँ गृहस्थ कार्यों से...
 उक्त विषय संबंधी प्रश्न के उत्तर से...दूर रहता हूँ मैं गर्हित वचनों से...
 अप्रिय कठोर युक्त अहित वचन से...वाद-विवाद कर तुच्छ वचनों से...(3)...
 अनात्म अहितकर समस्त कामों से...दूर रहता हूँ मैं मन वचन काय से...
 करना कराना तथा अनुमति से...दूर रहता हूँ मैं स्व-पर अहित से...
 सांसारिक सभी काम अनंत बार किया...आत्म-उपलब्धि एक बार भी न किया...
 संसार के सभी काम त्यागता हूँ भाव से...'कनक' स्व-उपलब्धि हेतु प्रयत्न भाव से...(4)...
 नन्दौड़, दिनांक 29.11.2015, रात्रि 7.45

महान् से महान्तर तथा महान्तम उपलब्धि

(आत्मविश्वास-आत्मज्ञान तथा आत्मोपलब्धि ही सर्वोत्तम उपलब्धि)

(चाल : वैष्णव जन तो तेणे कहिये.....)

सम्यग्दृष्टि जन तेणे कहिये जे, वस्तु स्वरूप/(सत्य स्वरूप) को माने रे!
 स्वसत्ता-परसत्ता-महासत्ता सह, द्रव्य स्वरूप को माने रे!!(ध्रुवपद)!!

अनादिकाल से सत्य को न माना, जो सर्वज्ञों ने जाना है!

मोह अनंतानुबंधी कर्मोदये, अंधश्रद्धानी बना है!!

अनंत बार देव मानव बना, सत्ता-संपत्ति भोगा है!

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि चाहा, आत्मरूप में न जागा है!!

जिससे अनंत जन्म-मरण को पाया, अनंत दुःखों को भोगा है!
नरक निगोद पशु-पक्षी बनकर, उसे ही स्व-स्वरूप माना है!!

सुद्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव पाकर, सद्गुरु से (जब) सत्य जाना है!
आत्मविशुद्धि से आत्मा को जानकर, महान् उपलब्धि वाला बना है!!

इससे ही ज्ञान सुज्ञान होता है, भेद-विज्ञानी महान् होता है!
परम दार्शनिक परम वैज्ञानिक, महान् तत्त्ववेत्ता होता है!!

जिससे आचरण सम्यक् करके, आत्मध्यान शुक्ल किया है!
समस्त कर्मों को नाश करके, आत्मिक वैभव पाया है!!

आत्मोपलब्धि परम उपलब्धि, अनंत सुखादि को पाना है!
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' भी, स्व सत्ता/(सर्व विभाव) को जाना है!!

हे! जीया कब तक पर-परिणति में उलझेगा!?

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : जीया कब तक उलझेगा.....)

जीया! कब तक उलझेगा अनात्म भावों (अशुभ भावों/कषाय भावों/पर-परिणति
/संकलेश भावों) में।

राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि भावों में॥ध्रुव॥

धन-जन-मान व ख्याति-पूजा-लाभ में,
ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा व संकल्प-विकल्पों में,
शत्रु-मित्र-भाई-बंधु-अपना-पराया में,
आकर्षण-विकर्षण आदि अशुभ भावों में॥1॥ जीया...

फैशन-व्यसन व आडम्बर-दिखावा में,
अहंकार-ममकार आदि संकलेश भावों में,
तन-मन-इन्द्रिय हेतु उनके भोग-उपभोग में,
विषय-वासना में पर-परिणति रूप में॥2॥ जीया...

संकीर्ण-कट्टरमय पंथ-मत व भावों में,
पूजा-पाठ-संत व ग्रंथ भाषा व जाति में,

राजनीति-कानून-शिक्षा-संविधान-राष्ट्र में,
विज्ञान-कला-सभ्यता-इतिहास-परंपरा में॥3॥ जीया...

ये सब तेरा न स्वरूप ये सब विकार भाव है,
सत्य-समता-शांति तेरा तो परम-स्वभाव है,
अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-अव्याबाध है,
सच्चिदानंद तेरा स्वरूप पावन शुद्ध-बुद्ध है॥4॥ जीया...

विभाव भाव से (तुझे) मिले अनंत दुःख-संताप है,
तन-मन-आत्मा से सहे आधि-व्याधि के ताप है,
संकलेश से मिले दुःख विविध प्रकार है,
कर्म सिद्धांत मनोविज्ञान आयुर्वेद/(अनुभव) से सिद्ध है॥5॥ जीया...

कलह-विसंवाद-अशांति-वाद-विवाद-वैरत्व,
तनाव फोबिया डिप्रेशन शिजोफ्रेनिया हृदयाघात,
इसीसे भिन्न स्व-स्वभाव में न होते हैं पर-विभाव/(दुःख-संताप),
'कनक' विभाग त्याग करो सेवो है! आत्म-स्वभाव॥6॥ जीया...

मेरा एकान्तवास मौन व कथन के कारण

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : तेरे प्यार का आसरा.....)

एकान्तवास में मैं रहना चाहता हूँ, ध्यान-अध्ययन व समता चाहता हूँ।
मनन-चिन्तन सह मौन चाहता हूँ, ख्याति-पूजा-लाभ से मैं दूर रहता हूँ।
शोध-बोध-अनुभव-शांति चाहता हूँ, आत्मानुभव सह विश्वास चाहता हूँ।
समय-शक्ति का सदुपयोग चाहता हूँ, संकल्प-विकल्प व संकलेश त्यागता हूँ।

श्लोक- जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।

भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥ (72 समाधितंत्र)

हिन्दी- जन-सम्पर्क सह वार्तालापों से, स्पन्दित होता मन विभ्रम चित्त भी।
जन-सम्पर्क तथा वार्तालाप दोनों, त्याग करते मुमुक्षु श्रमण योगी॥

श्लोक- आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

कुर्यादर्थवशात् किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥ (50 समाधितंत्र)

- हिन्दी- आत्मज्ञानपरे अन्य सभी कार्य, नहीं धारणीय है अधिक काल।
आवश्यकतानुसार कुछ कार्य, करणीय वाक् काया से अतत्पर॥
- श्लोक- अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥ (58 समाधितंत्र)
- हिन्दी- समझाने या असमझाने पर भी, मूढ़ न समझते ऐसी अवस्था में ही।
समझाने का मेरा श्रम व्यर्थ जाता, अतएव मूढ़ को नहीं समझाता॥
- श्लोक- व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ (78 समाधितंत्र)
- हिन्दी- व्यवहार में सुप्त होते ज्ञानी-ध्यानी, आध्यात्मिकता में होते पारगामी।
व्यवहार में जागृत होते भोगी-अज्ञानी, आध्यात्मिकता से होते प्रतिगामी॥
- श्लोक- तद्ब्रूयात्तत्परान्यृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ (43 समाधितंत्र)
- हिन्दी- आत्मा के लिए बोलो तथाहि पूछो, उसकी इच्छा करो तत्पर बनो।
अज्ञानता को त्यागो विद्यामय ही बनो, ऐसा ही ज्ञानी-ध्यानी श्रमण बनो॥
- श्लोक- पैशून्य हास्यगर्भ कर्कशमसमंजसं प्रलापितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥ (96 पु.सि.)
- हिन्दी- पैशून्य हास्य गर्भ कर्कश वचन, त्यजनीय है असमंजस व प्रलाप।
अन्य भी जो उत्सूत्र व गर्हित कथन, त्यजनीय (है) सभी ये असत्य वचन।
- श्लोक- अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक कलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥ (98 पु.सि.)
- हिन्दी- अरतिकर व भीतिकर जो कथन, त्यजनीय सभी खेदकर भी वचन।
वैर शोक कलहकर जो वचन, त्यजनीय (सभी) तापकर अप्रिय वचन॥
- श्लोक- मिथ्योपदेश दानं रहस्योऽभ्याख्यान कूटलेखकृती।
न्यासाऽपहार अतिचाराः भवन्तिमन्त्रभेदाश्च॥ (184 पु.सि.)
- हिन्दी- मिथ्या-उपदेश रहस्य उद्घाटन कथन, कूटलेखकरण न्यासापहार हरण।
गुप्त अभिप्राय का भी प्रगटीकरण, अतिचार पाँचों सत्य कथन में॥
- श्लोक- धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थ विप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने॥ (ज्ञानार्णव)

हिन्दी- धर्म के नाश में या क्रिया के ध्वंस में, सुसिद्धांत अर्थ के विप्लव (समय) में।
बिना पूछे भी कथन करणीय, तत्तत्स्वरूप प्रकाशन के लक्ष्य में।।

श्लोक- अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।

जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।। (18 र.श्रा.)

हिन्दी- अज्ञान-तिमिर से व्याप्त संसार में, उसे दूर करने के प्रयोजन में।
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशनार्थे, प्रभावना हो पवित्र भाव से।।

गाथा- रुसउ वा परो मा वा विसं वा परियतउ।

भासियव्वा हिय भासा सपक्खगुण करिया।। (श्वे. साहित्य)

हिन्दी- कोई हो रोष या कोई हो तोष, कोई विष माने कोई अमृत।
स्व-पर हितकर वचन ही योग्य, अहितकर वचन सभी ही त्याज्य।

शिक्षा- समता-शांति-मौन मेरे तो श्रेय, हितकर सत्य कथन प्रिय।
असत्य विसंवाद कलह अप्रिय, अनुशासनहीन अव्यवस्था अप्रिय।।
अधिकांश जन होते (हैं) संकीर्ण स्वार्थी, रूढ़िवादी पंथ-मत के दम्भी।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा से होते आवेशित, सत्य-समता से होते वे वंचित।।
आत्महित हेतु वे होते न तत्पर, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि के आतुर।
अव्यवस्थित ज्ञान तथाहि व्यवहार, न करते कर्तव्य विनय सदाचार।।
दम्भ प्रदर्शन हेतु होते वे आतुर, छिद्रान्वेषण निन्दा में होते हैं भरपूर।
फैशन-व्यसन व भोगोपभोग में, अस्त-व्यस्त व संत्रस्त जीवन में।।
इनसे विपरीत मेरे भाव-व्यवहार, अतः मैं चाहूँ मौन-एकांतवास।
राग-द्वेष-मोह मैं किसी से न करूँ, 'कनक' स्व-स्वभाव हेतु करूँ प्रयास।।

स्व-दोष परिज्ञान के उपाय व फल

(उत्तरोत्तर ज्ञान से योगियों के अनुभव व कर्तव्य)

(ज्ञानी की दृष्टि से मोही पागल व मोही की दृष्टि से ज्ञानी पागल)

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

श्लोक- यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।

उत्तरोत्तरविज्ञाद्योगिनः प्रतिभासते।। (151 आत्मानुशासन)

हिन्दी- जो-जो आचरण हुआ है पूर्व, वह-वह सब अज्ञान चेषित।
उत्तर-उत्तर विज्ञान के द्वारा, योगियों को होता प्रतिभासित।।

श्लोक- भुक्तोज्झिता मुहुर्माहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।। (30 इष्टोपदेश)

हिन्दी- ज्ञानी विरक्त होता भोगों से, मानकर यह सब मेरा उच्छिष्ट।
सभी भौतिक को भोगा मैं अनेक बार, अतएव न भोगूँ मेरा उच्छिष्ट।।

श्लोक- व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागत्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरः।। (7 समाधितंत्र)

हिन्दी- जो सांसारिक कार्य में सुप्त/(सुस्त), वह आध्यात्मिक कार्य में चुस्त/(मस्त)।
जो सांसारिक कार्य में चुस्त, वह आध्यात्मिक कार्य में सुप्त।।

रहस्य- यथाहि अबोध बालक खेलता है, धूली मिट्टी व मल आदि से।
तथाहि मोही अज्ञानी जीव आसक्त, होता है कामभोग में।। (1)

प्रबुद्ध होने पर यथा बालक, विरक्त होता है धूलीमलमिट्टी से।
आध्यात्मिक ज्ञानी/(योगी) तथाहि होता, विरक्त समस्त कामभोग से।। (2)

यथा-यथा प्रकाश अधिक होता, तथा-तथा अधेरा का होता नाश।
तथाहि आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति से, अज्ञानमोहतम का होता विनाश।। (3)

अज्ञानी मोही जीव नहीं जानता, स्व-पर-उपकार के भाव व काम।
ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-द्वेष-काम सह, काम करता है अयोग्यतम।। (4)

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-डिग्री हेतु, करते अन्याय व अत्याचार।
फैशन-व्यसन-शोषण करते, करते हिंसा-झूठ व व्यभिचार।। (5)

मिलावट-भ्रष्टाचार ठगबाजी करते, करते ढोंग-पाखण्ड व दंभ/(मद)।
आक्रमण-युद्ध-हत्या करते, करते बहुविध आतंकवाद।। (6)

इन सब में मोही सजग रहता, मानता यह सब मेरा काम।
हित-अहित-परमार्थ न जानता, न करता स्व-पर-उपकार के काम।। (7)

आध्यात्मिक ज्ञानी जानते यह सब, पागलों के समान काम।
स्व-पर-अहितकारी आत्मपतनकारी, इहपरलोक हेतु दुःखद काम।। (8)

अतएव वे इनसे निवृत्त होकर, आत्मकल्याण में होते प्रवृत्त।
 ज्ञान-ध्यान-तप-त्याग में लीन होते, आध्यात्मिक सुख में होते प्रवृत्त।। (9)
 अज्ञानी मोही को सब गलत लगता, जो करते है आध्यात्मिक संत।
 आध्यात्मिक योगी के भाव-व्यवहार, को वह मानता है उन्मत्तवत्/(पागलवत्)।।(10)
 इसलिए मोही आध्यात्मिक संत का, अनादर व हत्या तक करता।
 संत तो स्वर्ग-मोक्ष पधारते, अज्ञानी भोगता अनंत दुःख।। (11)
 अतएव हे जीव! बनो आध्यात्मिक, पाओ हे! आत्मिक अनंत सुख।
 'कनकनन्दी' को अतः भाया आध्यात्मिक, प्राप्त करने हेतु आत्मिक सुख।। (12)

कठोर भी गुरुवचन से भव्य जीव विकसित होता

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

श्लोक- विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।

रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः।। (42 आत्मानुशासन)

हिन्दी- कठोर सूर्य किरणों से, यथा विकसित होता कमल।

कठोर भी गुरु कथन से, तथा विकसित भव्य कमल।।

श्लोक- लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुराः।

दुर्लभाः कर्तुमद्यते वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः।। (43 आत्मानुशासन)

हिन्दी- उभयलोक हितकर, वक्ता-श्रोता सुलभ पूर्वे।

पालन दुर्लभ पूर्व भी, वक्ता-श्रोता दुर्लभ अब।।

श्लोक- हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।

विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिण्यसे सुधीः।। (46 आत्मानुशासन)

हिन्दी- हित त्यागकर अहित अपनाकर, दुर्बुद्धि से पाया दुःख अनेक।

विपरीत करो इसी से, सुख पाओगे बनो हे! सुबुद्धि।।

रहस्य- अनादि काल से मोह अज्ञान से, आवेशित हैं संसारी जीव।

इसी के कारण विपरीत भाव व, व्यवहार करते हैं संसारी जीव।। (1)

क्रोध-मान-माया-लोभ से ग्रसित, अन्याय अत्याचार करते दुराचार।

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह सह, सप्त व्यसन सेवते अष्ट मद।। (2)

- इनसे दूर करने हेतु, भव्य को देते हैं गुरु उपदेश।
 सम्यग्दृष्टि से मुनि शिष्य को, शिक्षा-दीक्षा देते हैं गुरु विशेष॥ (3)
 अनुशासन या दोष दूर हेतु, गुरु जब बोलते हैं कठोर वचन।
 भव्य जीवों का मन होता विकसित, सूर्य किरण से यथा पंकज॥ (4)
 यथा दयालु (सु) योग्य वैद्य द्वारा, चिकित्सा होती है विविध प्रकार।
 लंघन विरेचन वस्तिकर्म स्वेदन, शल्यक्रिया आदि अनेक प्रकार॥ (5)
 तथापि रोगी जो निरोग इच्छुक, इससे न माने वैद्य को दुष्ट।
 तथाहि भव्य जीव कटु वचन से, न माने गुरु को दुष्ट॥ (6)
 अपितु जो गुरु को माने भव्य जीव, परम-उपकारी उभय लोक हेतु।
 भक्ति-श्रद्धा बहुमान सेवा से, कृतज्ञ बने आत्मकल्याण हेतु॥ (7)
 गुरु उपदेश बिना सम्यक्त्व ही, न होता भव्य जीवों को।
 अतः गुरु को माने भव्य जीव महान्, ऐसा ही मान्य है 'कनक' को॥ (8)

मोही की सर्व-अवस्था विभ्रम-स्वरूप

(आत्मज्ञ को मोही की सर्व अवस्था विभ्रम रूप ज्ञात होती)

(चाल : आत्मशक्ति से.....)

श्लोक- सुप्तोन्मत्रायवस्थैव विभ्रमोऽनात्म दर्शिनाम्।

विभ्रमोऽक्षीण दोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः॥ (93 समाधितंत्र)

हिन्दी- सुप्तउन्मत्त अवस्था को ही, मोही जानता विभ्रम है।

आत्मदर्शी को मोही की हर, अवस्था लगती विभ्रम है॥ (1)

समीक्षा- मोही न जानता आत्म-अनात्मा को, हेय-उपादेय तत्त्व को।

इसलिए उसकी हर अवस्था ही, होती है अज्ञानमय ही॥ (2)

निद्रा उन्मत्त अवस्था को ही, वह जानता विभ्रममय है।

आरम्भ परिग्रह भोग विलासिता को, न माने विभ्रममय है॥ (3)

मोही की हर क्रिया लगे आत्मज्ञ को, सुप्त व विभ्रममय है।

सोना, जागना, खाना, पीना आदि, होती जो मोह-अज्ञानमय है॥ (4)

मद्य-मोहित की हर क्रिया यथा, ज्ञानी को लगे गलत है।

- यथा मोही की हर क्रिया, आत्मज्ञ को लगे गलत है॥ (5)
- तन-मन-धन-ख्याति-पूजा-लाभ, सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि।
भोग-उपभोग व शत्रु-मित्र में, जागृत रहता है अज्ञानी॥ (6)
- इसी से परे आध्यात्मिक ज्ञानी, ज्ञान-ध्यान में होते जागृत।
समता-शांति व आत्म-स्वभाव में, होते वे रत व मस्त॥ (7)
- अलौकिक वृत्ति होती है योगी की, उनसे विपरीत मोही की।
एक मोक्ष-पथ तो अन्य बंध-पथ, 'कनक' चाहे आत्म प्रवृत्ति॥ (8)

हठग्राही (पूर्वाग्रही, मिथ्यादृष्टि) सत्य को नहीं मानता

(चाल : आत्मशक्ति....., शत-शत वंदन....., भला किसी का कर न सको.....)

श्लोक- यत्रेवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥ (95) समाधितंत्र

हिन्दी- जिसमें लगती मानव (की) बुद्धि, श्रद्धा उसमें ही लग जाती।
जिसमें लगती है श्रद्धा, उसमें चित्त की लीनता होती॥

श्लोक- यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चितस्य तल्लय॥ (96) समाधितंत्र

हिन्दी- जिससे निवृत्त हो जाती बुद्धि, श्रद्धा उसमें निवृत्त होती।
जिससे निवृत्त हो जाती श्रद्धा, चित्त की उसमें न होती प्रवृत्ति॥

श्लोक- आग्रहीवत् निनीषति युक्तिं यत्र-तत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपात रहितस्य तु युक्ति यत्र-तत्र मतिरस्य निवेशम्॥

हिन्दी- आग्रही युक्ति को भी खींच लेता है, स्वमति जहाँ भी होती है।
पक्षपात से जो रहित होता है, स्वमति को युक्ति में ले जाता है॥

श्लोक- नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेधर्मास्तिकायवत्॥ (35) इष्टोपदेश

हिन्दी- अज्ञानी (अभव्य) जीव न होता है ज्ञानी, ज्ञानी जीव भी न होता है अज्ञानी।
निमित्त मात्र है उपदेश तथा, गति के लिए धर्मास्तिकाय यथा॥

- गाथा-** मिच्छित्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदी।
 ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।। (17) गो.जीव.
 मिथ्यादृष्टि जो जीव होता, विपरीत श्रद्धान से (वह) युक्त होता।
 उसे सद्धर्म नहीं रूचता, ज्वर रोगी को यथा मधुर न रूचता।।
- गाथा-** मिच्छाइड्डी जीवो उवइट्टं पवयणं ण सद्दहदि।
 सद्दहदि असब्भावं उवइट्टं वा अणुवइट्टं।। (18) गो.जीव.
- हिन्दी-** मिथ्यादृष्टि जो जीव होता, उपदेश प्रवचन नहीं रूचता।
 असद्भाव को भी श्रद्धान करता, उपदेश होता या नहीं भी होता।।
- समीक्षा-** अनादि मोहासक्त जीव तो विपरीत ज्ञान से युक्त होता।
 विपरीत रूचि व बुद्धि से सहित, विपरीत काम में प्रवृत्त होता।।
 सत्य-तथ्य व आत्मतत्त्व में, रूचि न होती तथाहि बुद्धि।
 राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध में, होती है बुद्धि होती प्रवृत्ति।।
 आहार-निद्रा-भय-मैथुन व, परिग्रह संचय में होती है बुद्धि।
 ईर्ष्या, घृणा, तृष्णा, संकीर्णता में, सहज रूप में होती प्रवृत्ति।।
 हर युक्ति व धर्म कर्म में, इसी हेतु ही करे प्रवृत्ति।
 इसी हेतु ही पक्षपात करे, नहीं होगा वह सत्य में प्रवृत्त।।
 ऐसे मिथ्यादृष्टि/(अभव्य) जीव को कोई, न कर सकेगा सत्पथगामी।
 परिणमन न करने वाले को, कोई न बना सकेगा ज्ञानी।।
 गति करने वालों को धर्मास्तिकाय सहायक होता।
 गति रहित वालों को धर्मास्तिकाय न सहायक होता।।
 मिथ्यादृष्टि जीव को तो उपदेश सत्य भी नहीं सुहाता।
 आगम ज्ञाता या आगम से भी, स्वदुराग्रह को नहीं छोड़ता।।
 इसलिए तो अनादि काल से, जीव संसार में परिभ्रमण करे।
 उत्तम द्रव्य क्षेत्र कालादि पाकर, सम्यक्त्व नहीं पाते।।
 अनंत बार चार उपलब्धि को, पाया करणलब्धि नहीं पाया।
 परिणाम विशुद्धि के बिना, सम्यक्त्व भाव को नहीं पाया।।

इसलिए ज्ञान न सही होता, तथाहि आचरण भी न सही होता।
 अतएव हर धार्मिक कार्य बाह्य, ढोंग पाखण्ड ही होता।।
 विनम्र सत्यग्राही बनने से, परिणाम जब होगा सम्यक्त्व।
 ज्ञान आचरण सही होने से, रत्नत्रय भी होगा सम्यक्त्व।।
 जिससे आत्मा की होगी विशुद्धि, जिससे होगी मोक्ष की सिद्धि।
 यह ही जीव की परम उपलब्धि, 'कनकनन्दी' की आत्मा की निधि।।

अनावश्यक जन सम्पर्क मैं क्यों नहीं करता

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : तेरे प्यार का आसरा.....)

एकांत मौन में मैं रहना चाहता हूँ, समता शांति की मैं साधना चाहता हूँ।
 सत्य-तथ्य का मैं अनुभव चाहता हूँ, द्वंद्व-संक्लेश से परे चाहता हूँ।। (1)
 अधिकांश जन होते संकीर्ण स्वार्थी, ईर्ष्या द्वेष घृणा (मोह) से होते आकीर्ण।
 भेद-भाव पक्षपात सहित होते, छिद्रान्वेषणकारी व निन्दक होते।। (2)
 संकीर्ण जाति-पंथ-मत सहित, रूढ़ि-परम्परा अंधश्रद्धा युक्त।
 हिताहित विवेक व समीक्षा रहित, भेड़-भेड़िया चाल में चलते सतत।। (3)
 साक्षर होकर भी राक्षस बनते, धार्मिक होकर भी विनम्र न होते।
 आधुनिक बनकर भी उदार न होते, बुद्धिमान होकर भी गुणग्राही न होते।। (4)
 सत्य-तथ्य का भी न ज्ञान करते, समता-शांति से जीया न करते।
 उद्दण्ड उत्श्रृंखल व घमण्डी होते, अनुशासनशील प्रामाणिक न होते।। (5)
 तथापि स्वयं को ही सच्चा अच्छा मानते, (मुनि) अन्य के गुणों से भी न शिक्षा लेते।
 सुमुनि (सुगुणी) विद्वेषी छिद्रान्वेषी भी होते, उनसे भी ईर्ष्या घृणा करते।। (6)
 आवश्यकतानुसार/(संकट-रोगी)/में जब वे अपवाद में चलते, उनके लिए अनधिकार
 कुचेष्टा करते।
 सेवा सहयोग वैवाचित्ति तो न करते, करने वालों का भी वे विरोध करते।। (7)
 अतएव उनसे मैं सदा साम्य रहता, विनम्र गुणग्राही को शिक्षा भी देता।
 शोध-बोध व साधना में रत रहता, सत्य-समता-शांति 'कनक' को भाता।। (8)

“आध्यात्मिक दृढ़ता हेतु मेरा चिन्तन”

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की धड़कन.....)

मुझे सूर्य समान भी बनना है, जहाँ रहूँ वहाँ से ही प्रकाश फैले।
एकान्त मौन की साधना करूँ, ख्याति पूजा रिक्त मैं समता धरूँ॥

सूर्य उदय होता वह है पूर्व दिशा, न कि पूर्व दिशा से सूर्य उदय होता।
जहाँ रहूँ वहाँ मैं साधना करूँ, बाह्य प्रभावना हेतु न प्रसिद्धि चाहूँ॥ (1)

जुगनू समान नहीं मैं टिमाटिमाकर, दूसरों को प्रकाश देना चाहता हूँ।
नहीं धुआँ ही छोड़कर अग्निसम, दूसरों को आलोक मैं न देता हूँ॥

यथा सूर्य न होता प्रभावित कभी, भयंकर तूफान व आँधी से भी।
तथा मैं भी न प्रभावित होऊँ कभी, ईर्ष्या द्वेष घृणा व तृष्णा से भी॥ (2)

आकाश समान मैं भी निर्लिप्त रहूँ, उदार व्यापक व अव्याबाध रहूँ।
अनंतगुणों को मैं धारण करूँ, भेद-भाव संकीर्ण से मैं परे रहूँ॥

विद्युत् समान तीव्र प्रज्ञा ज्योति से, अज्ञान मोह तिमिर को मैं नाश करूँ।
यथा विद्युत् न प्रभावित होता पवन से, तथा मैं न प्रभावित होऊँ दोषों से॥ (3)

कमल समान मैं कोमल बनकर भी, तीव्र कषाय ताप से भी निर्लिप्त रहूँ।
लौकिक पंक से मैं ऊपर ही रहूँ, ज्ञानानन्द मकरन्द से भरित रहूँ॥

यह सब दृष्टांत आत्मसम्बोधन हेतु, मेरी तुलना ही इनसे न होना संभव।
मैं तो सच्चिदानन्दमय अनंतगुणी, ‘कनक’ का स्वरूप शुद्ध-बुद्ध॥ (4)

मैं स्वयं की पूजा-प्रशंसा व स्वीकृति करूँ

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : भावे वंदू....., भातुकली....., आत्मशक्ति.....)

आत्मविश्वास युक्त आत्मविश्लेषण से, सतत करूँ मैं निशिदिन।
आत्मशोधन सह आत्मपरिज्ञान, स्वयं में करूँ मैं प्रतिदिन॥ (1)

स्वयं को जानना स्वयं को मानना, स्वयं को पाना है मेरा धर्म।
आत्म प्रतीति व आत्मस्वीकृति व, आत्म-संतुष्टी है मेरा कर्म॥ (2)

इसे कहते हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि है मोक्षमार्ग।

आत्मज्ञान व आत्मध्यान व आत्मउपलब्धिमय परिनिर्वाण॥ (3)

यह ही मेरा है निज-स्वभाव, यह ही मेरा है चिन्मयरूप।

इसे ही कहते हैं सत्यशिवसुन्दर, शुद्ध-बुद्ध व आनन्दरूप॥ (4)

इसी से ही मैं स्वतंत्र बनूँगा, स्वावलंबी व संतोषी बनूँगा।

पर निन्दा अपमान प्रशंसा शून्य, स्वयं के द्वारा ही सुखी बनूँगा॥ (5)

पर द्वारा पूजा प्रशंसा बिना, आत्मगुणस्मरण में तुष्ट रहूँगा।

ज्ञानानन्दमय निज स्वरूप की पूजा, प्रशंसा से (मैं) तृप्त रहूँगा॥ (6)

पर प्रशंसा हेतु होते राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-अहं व मोह।

प्रशंसा प्राप्ति या अप्राप्ति में, तथाहि प्राप्ति के विस्तार में॥ (7)

इसी से संकल्प-विकल्प होते, होते हैं अनेक संक्लेश भी।

इसी से भिन्न आत्म-प्रशंसा से, मिलती है शांति व मुक्ति भी॥ (8)

पर से प्रशंसा प्राप्ति के लिए, चाहिए धन-जन-मंच भी।

आत्म-प्रशंसा प्राप्ति के लिए, चाहिए आध्यात्मिक चिन्तन ही॥ (9)

यह है परम आध्यात्म-साधना, मोही-रागी-द्वेषी से नहीं संभव।

इसे ही संभव करने हेतु, 'कनकनन्दी' का पावन भाव॥ (10)

मेरी आत्म-आलोचना

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., माईन-माईन.....)

(संकीर्ण-कट्टर-क्रूर धर्मांधों के भाव व्यवहार से पीड़ित होकर यह आत्म संबोधनात्मक कविता बनी)

सर्वज्ञ कथित आचार्यकृत आगम में, मैंने पढ़ा है अनेक बार।

अनंत काल से अनंत भवों में, स्वयं को न सुधारा मैं एक बार॥

इसलिये मैं अभी तक भी, कर्म बंधनों से न हो पाया हूँ मुक्त।

क्रिया पंचपरिवर्तन के सभी कार्य, आत्मोपलब्धि से न हुआ हूँ युक्त॥

बाह्य धर्म क्रिया तप त्याग किया, ढोंग-पाखण्ड भी किया अनेक।

सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि हेतु, धार्मिक क्रिया-काण्ड किया अनेक।।

सुधर्मी-विधर्मी अन्य पंथमतियों से, ईर्ष्या-द्वेष-घृणा किया अनेक।

स्वयं को ही श्रेष्ठ जताने हेतु, वाद-विवाद युद्ध किया अनेक।।

आत्म आलोचना नहीं किया मैंने, सत्य समता को नहीं किया प्राप्त।

आत्मविशुद्धि साधना के बिना, आत्म तत्त्व को नहीं किया प्राप्त।।

ख्याति-पूजा-लाभ-लोकरंजन हेतु, किया प्रवचन व धर्म प्रचार।

अनुयायी भक्तों की भीड़ जोड़कर, अनैतिक कार्य भी किया प्रचुर।।

अन्य को सही बनाने हेतु कठोर, क्रूरता का काम भी किया।

मेरे अनुसार जो न चले उनसे, वैरत्व किया व बंध भी किया।।

यह सब आत्म पतन के कारण, त्याग रहा हूँ मैं नवकोटि से।

आत्मविशुद्धि व समता-शांति से, भिन्न (हर) भाव त्यागूँ मैं नवकोटि से।।

इसीसे युक्त धर्म प्रभावना व, विश्वशांति हेतु मैं भाऊँ भावना।

संकल्प-विकल्प व संक्लेश त्यागकर, 'कनक' सदा करे शुचि/(आत्म) भावना।।

मेरा अन्य के लिए अबोधगम्य भाव संसार

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

मेरे भाव-व्यवहार होते अन्य से भिन्न, मेरे ज्ञान-अनुभव न होते अन्य सम।

मेरे लक्ष्य साधना भी अन्य सम नहीं, अतएव अन्य मुझे जानते नहीं।।

मेरा भाव सदा सत्यग्राही ही होता, स्व-पर-विश्व कल्याणमय ही होता।

तदनुकूल व्यवहार मैं करता, शक्ति अनुसार यह कार्य करता।।

मेरा ज्ञान अनुभव सहित होता, रटन्त ज्ञान को महत्व कम देता।

संकीर्ण मिथ्यामत को मैं नहीं मानता, उदार सहिष्णुपूर्व भाव/(ज्ञान) रखता।।

मेरा परम-लक्ष्य सत्य/(शांति)/(मोक्ष) प्राप्त करना, समतामयी साधना से मोक्ष वरना।

दंभपूर्ण आडम्बर मैं नहीं करता, ख्याति पूजा लाभ से दूर रहता।।

आध्यात्मिक शुद्धि को मैं महत्व देता, इसे केन्द्र करके हर कार्य करता।

ज्ञान ध्यान अध्ययन लेखन पठन, शिविर संगोष्ठी कक्षा या प्रवचन।।

देश-विदेशों में जो हो रहा कार्य, भक्त-शिष्यों द्वारा जो धर्म-कार्य।

आनुषंगिक रूप यह सब हो रहा, भावना का बाह्य फल मिल रहा।।

इसी से कर्तृत्व राग-द्वेष नहीं है, इसी के लिए संक्लेश भाव नहीं है।

धनजनमान का प्रयोजन नहीं है, स्व-पर विश्वकल्याण भाव सही है।।

दूसरों की कमियों से शिक्षा मैं लेता, कमी दूर करने की शिक्षा मैं देता।

घृणा कभी दुर्गुणी से नहीं करता, उनका भी हित हो यही चाहता।।

अपना-पराया मेरा भाव न होता, धनी-गरीब में भेद-भाव न होता।

भोले-भालों को मैं महत्व देता, उनके दुःख से अति दुःखी हो जाता।।

हर कार्य अनुशासन से करता, क्रमबद्ध व व्यवस्थित करता।

समता शांति से कार्य मैं करता, अन्यथा मुझे अच्छा नहीं लगता।।

कोई माने न माने आग्रह नहीं, सर्व जीव सुखी बने भावना सही।

कभी-कभी भाव में एकला होता, तथापि सत्य समता नहीं छोड़ता।।

अन्य कोई यदि मुझे नहीं मानता, गौरव मेरा अधिक बढ़ भी जाता।

मैं सोचता हूँ मैं अन्य से भिन्न, अनुभव-भावना से अति अग्रिम।।

जब मेरा अनुभव सत्य हो जाता, भावानुसार या काम भी होता।

आत्म-गौरव मेरा और बढ़ता, अनुभव-भावना को और बढ़ाता।।

इसके साथ-साथ दुःख भी होता, मेरे अनुभव से जो लाभ न लेता।

रोग-दुःखों की पीड़ा को सहता, ठोकर खाकर पुनः मुझे मानता।।

भीड़ व प्रसिद्धि से मैं दूर रहता, विज्ञापन दिखावा नहीं करता।

गहन सूक्ष्म व्यापक मैं कहता, जिससे मुझे समझना कठिन होता।।

मुझे अन्य लोग माने स्वयं समान, अथवा मानते अन्य जन समान।

किन्तु मैं अन्य से प्रायः पृथक् होता, जिससे मुझे जानना कठिन होता।।

इसी से मुझे बहुत लाभ भी होता, प्रसिद्धि व भीड़ से मैं बच जाता।

जिससे मेरी साधना उत्तम होती, समता शांति की प्राप्ति अधिक होती।।

मेरे अंग लक्षण भी यही कहते, विदेशी जन मानेंगे यह बताते।

समाधि के अनन्तर देशी पूजेंगे, जीवन्त अवस्था में लाभ न लेंगे।।

हर काल भारत में ऐसा ही होता, अन्य देशों में किंचित् ऐसा ही होता।
तथापि महान् लक्ष्य खोटे न होते, 'कनक' को महान् लक्ष्य ही भाते।।

महान् लक्ष्य सहित मरना श्रेष्ठ, क्षुद्र लक्ष्य सहित जीना कनिष्ठ।
महान् लक्ष्य से महान् फल मिलता, क्षुद्र लक्ष्य से क्षुद्र फल मिलता।।

“मेरी गुण-दोष समीक्षा से लाभान्वित होते हैं कम”

(राग : स्युपति राघव राजाराम.....)

मेरी प्रवृत्ति अन्य से भिन्न होती है, ईर्ष्या द्वेष घृणा से रिक्त होती है।
स्व-पर हितकारी वृत्ति होती है, समता सत्याग्राही कृति होती है।।

स्व-पर दोषों से मैं शिक्षा लेता हूँ, स्व-पर हित हेतु शिक्षा लेता हूँ।
योग्य व्यक्ति हेतु शिक्षा देता हूँ, अहितकर भाव नहीं लाता हूँ।। (1)

स्व-दोषों को मैं दूर करता, स्व-गुणों को मैं बढ़ाता जाता।
स्वयं की रक्षा हेतु यत्न करता, स्व-पर-गुण-दोष (को) अतः जानता।

छिद्रान्वेषण मैं नहीं करता, अन्य का अहित मैं नहीं करता।
सुयोग्य वैद्य सम मेरी प्रवृत्ति, पापभीरु गुरु सम मेरी प्रकृति।। (2)

अन्य प्रायः मुझसे भिन्न ही होते, जौंक सर्प मच्छर समान होते।
(अतः) अन्य मुझे अन्य सम मानते, उसी दृष्टि से व्यवहार करते।।

अतः मुझसे कम लाभ ले पाते, संकट रोग क्लेशों को सहते।
ठोकर खाकर ही कोई मानते, ठोकर से भी कुछ नहीं मानते।। (3)

इनसे भी (मैं) माध्यस्थ भाव रखता, सभी सुखी बने कामना करता।
सुधरने पर उन्हें मार्ग बताता, सुमार्ग गमन से सुखी बनता।।

सभी को मैं उपदेश नहीं झाड़ता, सुयोग्य शिष्यों को अनुभव बताता।
अनुभव समझना अति कठिन, अनुभव करना और भी कठिन।। (4)

अनुभव की उपलब्धि विरल होती, क्षयोपशमलब्धि दुर्लभ होती।
सामान्य जानकारियाँ प्रायः रखते, अतएव अनुभव न पचा पाते।।

बोधि दुर्लभ है अति दुर्लभ, अनुभवी गुरु के लाभ दुर्लभ।
इनके सदुपयोगी शिष्य दुर्लभ, 'कनकनन्दी' चाहे ऐसा ही लाभ।। (5)

मेरी शुद्धात्म-अनुप्रेक्षा

-आ. कनकनन्दी

(चाल : भावे वन्दु तो अरिहंत.....)

मैं आत्मा हूँ परमात्मा हूँ...मैं द्रव्य-गुण-पर्याय हूँ।

मैं शुद्ध-बुद्ध आनंद हूँ...उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हूँ।

सत्य समता शांति हूँ मैं...निर्मल व निर्विकार हूँ।

क्षमा-मार्दव-शौच हूँ मैं...सरल-सहज-सुख मैं हूँ।।

संयम-तप-त्याग हूँ मैं...आकिंचन्य ब्रह्मचर्य हूँ मैं।

अहिंसा अपरिग्रह निर्भय हूँ मैं...अचौर्य, निराबाध हूँ मैं।।

श्रद्धा-प्रज्ञा-चारित्र्य हूँ मैं...अस्तित्व-वस्तुत्व भी हूँ मैं।

मोक्षमार्ग-मोक्ष भी हूँ मैं...पुण्य-पाप रिक्त विशुद्ध हूँ मैं।।

द्रव्य-भाव-नोकर्म (से) परे मैं...तन-मन व इन्द्रिय परे हूँ।

धन-जन व नाम से (भी) परे मैं...जाति-लिंग व भाषा परे हूँ।।

क्षेत्र-काल सीमा से परे मैं...पंथ-मत सीमा से परे।

भेद-भाव से रहित हूँ मैं...शत्रु-मित्र से भी मैं परे।।

मुझमें ही मेरी अनंत शक्ति...मुझमें ही मेरी सभी उपलब्धि।

मुझमें ही मेरे सभी धर्म हैं... 'कनक' मुझमें (ही) मेरे सभी तीर्थ।।

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 13.01.2016, रात्रि 8.20

विनय सम्पन्नता भाव से ओतप्रोत कनकनन्दी गुरुदेव

-श्रमणी आ. सुवत्सलमती

(चाल : बाबुल की दुआएँ लेती जा.....)

सौभाग्य से कनक गुरु मिले उनके चरणों में शरण मिले।

गुरुवर की देशना जब मिले मुक्ति पथ के द्वार खिले।। (ध्रुव)

सतपथ का गामी मैं बनूँ सद्धर्म पालक मैं बनूँ।

स्वात्मा पे श्रद्धा करके ही सम्यक् दृष्टि मैं बनूँ।

सद्गुरु से सम्यग्ज्ञान मिले सम्यक् चारित्र्य बोध मिले।। गुरुवर की...(1)

कनक गुरु का देखो वदन (मुख) मानो जैसे आनंद सदन।
यथा चंद्रमा ताप नशे कल्पवृक्ष दीनता नशे।
(पर) सद्गुरु दीनता अज्ञान नशे अनंत शक्ति उनसे मिले॥ (2)

विनय तप तो महान् है जो मोह भंग तो करता है।
जिन आज्ञा का पालन हो दूजे श्रुत आराधना है।
जो सरल स्वभावी गुण अनुरागी उसे मोक्ष का द्वार मिले॥ (3)

विनय वही कर सकता है जिसमें ऋजुता का भाव हो।
वह अष्ट मर्दों से दूर रहे मन में वात्सल्य भाव रहे।
अनुग्रह करने का हो इच्छुक उसमें ही विनय भाव मिले॥ (4)

लौकिक विनय तो इस जग में, संसार वृद्धि का कारण है।
लोकोत्तर विनय करने से, भावों की विशुद्धि होती है।
आनंदमयी जीवन बनता मन में सातिशय तृप्ति मिले॥ (5)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 14.01.2016 (मकर संक्रांति) मध्याह्न 1.30

मुझे जो नहीं आता-नहीं भाता (आचार्य कनकनन्दी के भाव-व्यवहार)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तेरे द्वार खड़ा इक जोगी..., एके लाल दरवाजे..., कर चले हम
फिदा..., छोटी-छोटी गैया...)

मने/(मुझे) (तो) लड़ाई-झगड़ा नहीं आवे/(नहीं भावे)

मने/(मुझे) तो समता-शांति-सत्य भावे/(आवे)

कूट-कपट-चालाकी (भी) नहीं आवे/(मने नहीं भावे)

सरल-सहज-भोला-भाला भाव भावे/(आवे)...स्थायी...

छोटा-खोटा ज्ञान-भान नहीं आवे/(भावे)...

गहन-गम्भीर ज्ञान-भान आवे/(भावे)...

निन्दा-चुगली-चापलूसी नहीं आवे/(भावे)

प्रोत्साहन-उपदेश-मौन आवे/(भावे)...(1)

अपना-पराया भेद (भी) नहीं आवे/(भावे)

उदार एकता प्रेम भाव आवे/(भावे)

वाचालता चंचलता नहीं आवे/(भावे)

अनुशासन शालीनता धैर्य भावे/(आवे)...(2)

अमर्यादा उद्दण्डता नहीं आवे/(भावे)

संयम धैर्य नम्रता हित भावे/(आवे)

समय शक्ति का दुरुपयोग नहीं भावे/(आवे)

उपलब्धि का उपयोग सर्व भावे/(आवे)...(3)

अध्ययन-मनन ध्यान मोहे भावे/(आवे)

ख्याति-पूजा अव्यवस्था नहीं भावे/(आवे)

तुच्छ अश्लील भाषा नहीं आवे/(भावे)

श्रेष्ठ शुद्ध क्लिष्ट भाषा भावे/(आवे)...(4)

धर्म-दर्शन-विज्ञान-गणित भावे/(आवे)

जुआ तास खेल नहीं आवे/(भावे)

स्वप्न शकुन के फल ज्ञान आवे

कार्य-कारण ज्ञान इसके नहीं आवे...(5)

जोड़-तोड़ धोखाधड़ी नहीं आवे/(भावे)

समीक्षा समन्वय सहयोग भावे/(आवे)

अन्य के दोष-गुण का ज्ञान होवे

निन्दा-अपमान-हानि नहीं भावे/(आवे)...(6)

व्यवस्थित सच्चे-अच्छे काम आवे/(भावे)

गड़बड़ छोटे-खोटे काम न आवे/(भावे)

सच्चे-अच्छे उच्च भाव लक्ष्य आवे/(भावे)

छोटे-खोटे व्यर्थ लक्ष्य/(भाव) न आवे/(भावे)...(7)

महान् कामों में रुचि/(आनन्द) होवे/(आवे)

अन्धानुकरण मोहे अच्छा न लगे

मौलिक स्वतंत्र अच्छे काम भावे/(आवे)
रूढ़ि नकलची न काम आवे/(भावे)...(8)

स्व-पर हित में सुख होवे/के भाव होवे/(आवे)
स्व-पर अहित में दुःख होवे

आध्यात्मिक स्वार्थ खूब भावे/(आवे)
संकीर्ण स्वार्थ न भाव आवे/(भावे)...(9)

मेरे दोष-गुणों को मैं शीघ्र जानता/(मानता)
दूसरों के दोषों से मैं शिक्षा भी लेता

कम बोलता किन्तु अधिक सोचता/(जानता)
व्यक्तिगत निन्दा कभी नहीं करता...(10)

अन्य के लिए जो क्लिष्ट होते
मेरे लिए वे सहज/(सरल) होते

आध्यात्मिक मेरे लिए श्रेय होता
'कनक' को आध्यात्मिक प्रिय होता...(11)

हल्दीघाटी, दिनांक 12.11.2013, मध्याह्न 3.02

अनुक्रमणिका

अ.क्र

विषय

पृ. सं.

प्रस्तुत कृति का सार

1. आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव का गुरुकुल
शान्ति निकेतन-आनंद धाम-आध्यात्मिक विश्वविद्यालय
2. शान्ति निकेतन/आनंद धाम है आचार्य श्री कनकनन्दी जी का
आध्यात्मिक विश्वविद्यालय
3. कनक गुरु की गीताञ्जली की महिमा
4. अलौकिक वृत्तिधारी आध्यात्मिक गुरुवर के अनुभव की महिमा
5. समस्त वाद-विवाद पर वैश्विक आध्यात्मिक गुरुकुल
6. मेरी कविताओं के विषय व उद्देश्य-आत्महित व विश्व मंगलकारी
'कनक' की कविता
7. आत्म-सम्बोधन-कनक तू तो अति अल्पज्ञ (अल्प दो (2) ही ज्ञान)
8. मेरा मूल्यांकन करता हूँ आध्यात्मिक दृष्टि से
9. मेरी भावना व विपरीत जीव प्रति मंगल कामना
10. महान् से महान्तर तथा महान्तम उपलब्धि
11. हे! जीया कब तक पर परिणति में उलझेगा!?
12. मेरा एकान्तवास मौन व कथन के कारण
13. स्व-दोष परिज्ञान के उपाय व फल
14. कठोर भी गुरुवचन से भव्य जीव विकसित होता
15. मोही की सर्व-अवस्था विभ्रम-स्वरूप
16. हठग्राही (पूर्वाग्रही, मिथ्यादृष्टि) सत्य को नहीं मानता
17. अनावश्यक जन सम्पर्क में क्यों नहीं करता
18. "आध्यात्मिक दृढ़ता हेतु मेरा चिन्तन"
19. मैं स्वयं की पूजा-प्रशंसा व स्वीकृति करूँ
20. मेरी आत्म-आलोचना
21. मेरा अन्य के लिए अबोधगम्य भाव संसार
22. "मेरी गुण-दोष समीक्षा से लाभान्वित होते हैं कम"

23. मेरी शुद्धात्म-अनुप्रेक्षा
 24. विनय सम्पन्नता भाव से ओतप्रोत कनकनन्दी गुरुदेव
 25. मुझे जो नहीं आता-नहीं भाता
- सत्य-असत्य/निन्दा प्रशंसा**
26. पावन-भावना व प्रार्थना
 27. “वन्दे तद्गुण लब्धये”
 28. निन्दा की आत्मकथा
 29. पापी की भी निन्दा न करूँ-प्रायश्चित्त (दोष दूर)
हेतु शिष्यों को दोष बताऊँ
 30. मैं न निन्द्य बनूँ न निन्दा करूँ (गुणी व गुण प्रशंसक मैं बनूँ)
 31. मैं प्रशंसनीय गुणी बनूँ व गुण-गुणी की प्रशंसा करूँ
 32. निन्दा प्रशंसा के स्वरूप व फल
 33. मौन की आत्मकथा
 34. वचन असंयम के कारण
 35. “निन्दा-प्रशंसा से अप्रभावी होता है सुखी”
 36. व्यक्तिगत निन्दा से परे
 37. वाद-विवाद कलह से शीघ्र मरण
 38. निन्दा की महिमा
 39. स्वयं को धन्य मानो
 40. आचार्यों के महान् गुणों की स्तुति
 41. “विभिन्न उपमा व विशेषणों से श्रमण की स्तुति”
 42. सकारात्मक-वर्णन : धर्मग्रंथों में सर्वाधिक
 43. नवकोटि से स्वात्म भावना ही सर्वोत्तम व परचिंता अधमाधमा
 44. कर्ता व भोक्ता स्वयं जीव
 45. विनय का व्यापक स्वरूप व फल
 46. विनय का स्वरूप व फल
 47. ज्ञान विनय व ज्ञानदानादि से मिलता है केवलज्ञान
 48. विनय का स्वरूप

49. अयोग्य शिष्य व सुयोग्य शिष्य
50. सरल रेखा के सम होता है सत्य-न्याय
51. सत्य एवं वचन-सत्य का विश्व रूप
52. वचन की विशेषताएँ
53. विश्व का सार : सत्य समता शांति
54. आध्यात्मिक सत्य : परम सत्य
55. ईश्वर का वैश्विक स्वरूप
56. सत्य परमेश्वर का विश्वरूप एवं स्व-परम
57. वैश्विक-सार्वभौम-परम सत्य का लक्षण द्रव्य का लक्षण
58. परम सत्य की परिणामनशीलता सत का लक्षण
59. विश्वगुरु सापेक्ष (अनेकांत सिद्धांत) वस्तु स्वरूप की सिद्धि
60. सत्य-असत्य का स्वरूप एवं उसके फल
61. अनेकांत वंदन (स्याद्वाद का स्वरूप)
62. हितोपदेशी तथा श्रोता
63. हित-मित-प्रिय या हित-अमित-अप्रिय
64. हितोपदेशी के मधुर/स्नेहिल गुण
65. दोष कथक जिनधर्मी नहीं
66. भाव विशुद्धि उत्कृष्ट तप से भी श्रेष्ठ
67. भाषा विज्ञान एवं कर्म सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में
वचनगुप्ति एवं उसके फल
68. असत्य रूपी हिंसा का लक्षण
69. सत्य का निषेध करना हिंसा
70. असत्य का कथन हिंसा
71. अन्यथा रूप कथन : हिंसा
72. अशिष्टादि कथन : हिंसा
73. गर्हित (निन्दा) वचन भी हिंसा
74. अप्रिय (निन्दा) वचन रूपी हिंसा
75. झूठ वचन से हिंसा होती

76. अप्रमत्त परिणाम में हिंसा नहीं
77. व्यर्थ झूठ छोड़ो
78. अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ
79. सत्यव्रत की भावनाएँ
80. सत्याणुव्रत के अतिचार
81. सत्य का व्यापक स्वरूप
82. स्वाभिमान का स्वरूप एवं फल
83. सज्जन एवं दुर्जन संगति के फल
84. दूसरे क्या बोलेंगे-क्या सोचेंगे की समीक्षा
85. विवाद-विसंवाद से सत्य व शांति अप्राप्त
86. बातें ही बातें मत करो
87. अधम धर्म के नाम पर अधर्म ही करता
88. दुर्जनों की पहचान-कथनी-करनी में भिन्नता
89. दुर्जन की प्रकृति एवं प्रवृत्ति
90. पाप के विभिन्न रूप समझा करो
91. छोटे-छोटे दोषों के बड़े-बड़े खोटे फल
92. निर्दोषी गुणी धार्मिक साधु आदि के अनादर का भयंकर परिणाम
93. मोही न देखता सत्य-तथ्य
94. नीच मानव एवं उच्च मानव के भाव एवं काम
95. उत्तम स्वात्म चिंता तो परचिंता अधमाधमा
96. आवश्यकता से अधिक : वर्चस्व व प्रसिद्धि हेतु अधिक पाप करते हैं नीच-मानव
97. धर्म परम सत्य-सर्व सुखकर होने पर भी धर्म से घृणादि क्यों?
98. ईर्ष्यालु मानव-जाति
99. प्रशंसा पुण्य तो निन्दा पाप

सत्य-असत्य/निन्दा-प्रशंसा

पावन-भावना प्रार्थना

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की धड़कन.....)

प्रथमं-करणं-चरण-द्रव्यं नमः,

शास्त्राभ्योसो जिनपत्ति-नुतिः संगतिः सर्वदार्यैः।

सदवृत्तानां गुण-गण-कथा दोष-वादे च मौनम्॥

सर्वस्यापि प्रिय-हित-वचो भावनाचात्म-तत्त्वे।

सम्पद्यन्तां मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गः॥

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पद-द्वये लीनम्।

तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्-यावन्-निर्वाण-सम्प्राप्तिः॥

मेरी भावना है मेरी प्रार्थना है, हे ! जिनदेव तेरे चरणों में।

स्व-दोष निवारण स्वगुण-संवर्द्धन, हेतु प्रार्थना/(भावना) हर क्षण में॥

शास्त्रों का मैं करूँ अभ्यास, आत्म-अध्ययन हेतु सदा सर्वदा।

ज्ञान वैराग्य ध्यान मनन हेतु, चार प्रकार के अनुयोगों का॥

आपकी स्तुति करूँ मैं सदा, भावशुद्धि हेतु नव-कोटि से।

आपके गुण प्राप्ति हेतु सदा, करूँ मैं भक्ति भावशुद्धि से॥

श्रेष्ठ/(आर्य) पुरुषों की मैं संगति करूँ, ज्ञान-वैराग्य व समता हेतु।

उनसे प्रेरणा प्रोत्साहन पाकर, आत्मविशुद्धि करूँ मोक्ष के हेतु॥

उत्तम चारित्रधारी का (करूँ) गुणगान, दोष कथन में मैं रहूँ मौन।

गुणगान से करूँ, गुण संवर्द्धन, दोष कथन से न करूँ पाप बंधन॥

सभी के लिये (कहूँ) प्रिय हित वचन, अहित कटु न कभी कहूँ।

आत्म तत्त्व की ही मैं भावना भाऊँ, आत्म विस्मरण न कभी करूँ॥

ये सब भावना (मेरी) सतत रहे, जब तक मुझे न मिले मोक्ष।

उत्तम भावना हेतु प्रार्थना करूँ, जिससे 'कनक' को मिले मोक्ष॥

“वन्दे तद्गुण-लब्धये”

(आध्यात्म गुण-गुणी के स्मरण-भजन-अनुकरण ही
पूजा, प्रार्थना, वन्दना, आराधना, आरती आदि
पूजा-प्रार्थना आदि के रहस्य, स्वरूप एवं फल)

(राग : शत-शत वन्दन..., यमुना किनारे श्याम...)

पूजा प्रार्थना का स्वरूप जानो... ‘वन्दे तद्गुणलब्धये’ रहस्य मानो।

भाव की विशुद्धि पूजादि मानो...जड़त्मक क्रिया नहीं है जानो॥ध्रु॥

पूजा-प्रार्थना-आराधना/(वन्दना)/(प्रशंसा) भक्ति...याग यज्ञ विधान संस्तुति।

पर्यायवाची शब्द पूजा के जानो...मन-वचन-काय से पूजा है मानो॥

स्तुति है पुण्य गुणोत्कीर्ति:...स्तोता है भव्यः प्रसन्नधीः।

निष्ठितार्थो है भवां स्तुत्यः...फल है नैश्रेयस सुखम्॥ (1)

गुण-गुणी के भाव/(मन) में स्मरण...वचन में हो तथाहि उच्चारण/(कीर्तन)/(भजन)।

काय में हो तथाहि वन्दन...जीवन में हो गुणानुकरण॥

पूजक का भाव प्रसन्न होता...गुणानुस्मरण से प्रमुदित होता।

मोह-राग-द्वेष क्षीण करता...पूज्य पुरुष के गुणों को ग्रहता॥ (2)

तब ही पूजक यथार्थ होता...शुभभाव से पाप को नाशता।

सात्तिश्य पुण्य अर्जन करता...इह परलोक सुख को पाता॥

इससे रहित जो पूजादि होती...यथार्थ पूजा वह नहीं होती।

भाव शून्य क्रिया/(पूजा) फल न देती...जड़ क्रिया से भक्ति/(पूजा) न होती॥ (3)

ख्याति-पूजा-लाभ निमित्त...राग-द्वेष-मोह-काम से युक्त।

रूढ़ि-परम्परा व अज्ञान युक्त...पूजा-प्रार्थना होती है अनर्थ॥

भावसहित वचन-तन से...द्रव्य-क्षेत्र व साधन क्रियाएँ।

स्तुति/(पूजा) से मिलता है यथार्थ फल...कृतकारिता अनुमत से फल॥ (4)

पवित्र भावना महान् कर्म...दानदया-सेवा यथार्थ धर्म।

गुण-गुणी सम्मान यथार्थ पूजा... ‘कनकनन्दी’ रचे ऐसी ही पूजा॥ (5)

निन्दा की आत्मकथा

(निन्दा का स्वरूप व कुफल)

(चाल : आत्मशक्ति.....)

मैं हूँ निन्दा सबसे निराली, सबसे निराला मेरा काम।

सुगुणी में भी दुर्गुण ढूँढना, ईर्ष्या-घृणा व दंभ के काम॥ (1)

स्वयं के सुमेरू समान दोष, मुझे न दिखाई देता विशेष।

गुणी के सुमेरू समान गुण, मुझे न दिखाई देता विशेष॥ (2)

यथा आँख स्वयं को न देखती, किन्तु बाहर के दृश्य देखती।

मैं भी स्व-दुर्गुण न देख पाती, दूसरों में दुर्गुण ही मैं देखती॥ (3)

मुझमें ही ईर्ष्या व द्वेष-घृणा, अहंकार (व) नकारात्मक विचार।

जोंक-मक्खी-गिद्ध-मच्छर सम, सुगुण में (से) भी दुर्गुण ग्रहण॥ (4)

मद्यपायी व पगला के समान, मेरा स्वभाव होता मिथ्या व भ्रम।

मृगमरीचिका सम मैं कुगुणी को, मानती रहती हूँ गुण महान्॥ (5)

मंथरा शकुनी दुर्योधन सम, मेरा स्वभाव होता है विषम।

गुण-गुणी को भी मैं मानती (हूँ), दुष्ट-दुर्जन व गुण-हीन॥ (6)

‘दुर्जन परिहर्तव्य’ के अनुसार, सुगुणी-सज्जन मुझे करते परिहार।

तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं, मुझे मानने वाले पापी प्रचुर॥ (7)

‘पृष्ठ माँस भक्षी निन्दक जन’, मेरे कारण पाते मृषानन्द अपार।

देव-शास्त्र-गुरु की भी निन्दा से, पापकर पाते हैं दुःख अपार॥ (8)

श्रीपाल भी कुष्ट रोगी बना मुझसे, सात सौ जन भी कुष्टी बने मुझसे।

साठ हजार सनत चक्री के पुत्र, अनेक भव दुःख पाये मेरे निमित्त॥ (9)

वाद-विवाद व कलह वैमनस, होते हैं मेरे कारण ईर्ष्या द्वेष।

लड़ाई-झगड़ा व फूट युद्ध होते, तथापि निन्दक मुझे चाहे विशेष॥ (10)

लोक में प्रसिद्ध है मेरी महिमा, निंदा पुराण व निंदा रस रूप में।

मेरे बिना निंदक रसपायी के, भोजन भी नहीं पचता है पेट में॥ (11)

मेरी महिमा को सज्जन-गुणी न मानते, उनका भी मैं न करती हूँ आदर/(परवाह)।

मेरे भक्तों के आश्रय पाकर, सज्जनों का भी मैं करती हूँ निरादर॥ (12)

व्यंग (रूप) में 'कनक' मेरा किया वर्णन, मुझसे दूर रहने का वर्णन।

गुण व गुणी प्रशंसा ही करणीय, प्रशंसा गुण व पुण्य वरणीय/(ग्रहणीय)॥ (13)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 20.01.2016, मध्याह्न 1.24

पापी की भी निन्दा न करूँ-प्रायश्चित्त (दोष दूर)

हेतु शिष्यों को दोष बताऊँ

(निन्दा से (1) सत्य अणुव्रत (2) सत्य महाव्रत (3) सत्य धर्म (4) भाषा समिति (5) गुप्ति में दोष लगता है व निन्दक कषाय व मिथ्यात्व युक्त भी होते हैं।)

-आ. कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की....., छोटी-छोटी गैया.....)

पापी की भी निन्दा मैं कभी न करूँ, पाप को सही भी कभी न मानूँ।

नवकोटि से समर्थन न करूँ, पापी का भी उद्धार सदा मैं चाहूँ।

हर जीव अनादि से पापी ही होते, पाप से संसार में भ्रमण करते।

पाप से रहित होते अरिहंत सिद्ध, मैं भी अभी तक पापी इसी से सिद्ध॥ (1)

पापी की भी निन्दा से मैं न पाप कमाऊँ, निन्दा करके क्यों मैं निन्दक बनूँ।

इसी से तो मैं स्वयं निन्दनीय बनूँगा, हर दृष्टि से मेरा तो पतन ही होगा॥ (2)

निन्दा से पापी का पाप दूर न होगा, मेरे प्रति दूषित भी भाव करेगा।

ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-वाद-विवाद होंगे, वैर-विरोध-संक्लेश उत्पन्न होंगे॥ (3)

शांति-समता-समन्वय नष्ट भी होंगे, सुधरने के बदले बिगाड़ भी होंगे।

शालीनता-गंभीरता मेरी नष्ट होगी, एकाग्रता संतुष्टी नष्ट भी होगी॥ (4)

पृष्ट-माँस भक्षण का दोष (मुझे) लगेगा, भाषा समिति सत्य धर्म में दोष लगेगा।

गुप्ति, सत्यमहाव्रत में दोष लगेगा, अनेक पाप के कारण (मेरा) पतन होगा॥ (5)

देवशास्त्र गुरु की निन्दा मात्र से, मिथ्यात्व कर्म भी बंधे तीव्र से।

अवर्णवाद पाप भी इसे कहते, (70) सत्तर कोटाकोटि सागर कर्म/(मोह) बंधते॥ (6)

तीर्थंकर गणधर व आचार्य आदि, पर निन्दा से निवृत्त रहे वे सभी।

परनिन्दा से नीच गोत्र बंध भी होता, इह-परलोक में निन्दा का पात्र बनता॥ (7)

सुधार हेतु योग्य शिष्य/(भक्त, व्यक्ति) के दोष बताऊँ, उपगूहन स्थितिकरण

वात्सल्य से बताऊँ।

प्रभावना अंग सहित पावन भाव से कहूँ, कार्य कारण सहित निवारण हेतु बताऊँ॥ (8)

आगम पद्धति गुरु के कर्तव्य युक्त, प्रायश्चित्त ग्रंथ मनोविज्ञान सहित।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से संयुक्त, प्रायश्चित्त देता हूँ चित्त/(दोष) शुद्धि निमित्त॥ (9)

निंदा से विपरीत प्रायश्चित्त की विधि, निन्दा से (मैं) पाप तो प्रायश्चित्त से पाप विशुद्धि।

ईर्ष्या-द्वेष-घृणादि भाव निंदा में, परोपकार की भावना प्रायश्चित्त में॥ (10)

मेरी भावना-प्रतिज्ञा व प्रवृत्ति, आगम की आज्ञा व सज्जन प्रवृत्ति।

इसी से मुझे मिलती शांति-संतुष्टी, 'कनकनन्दी' का लक्ष्य आत्मोपलब्धि॥ (11)

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 22.01.2016, रात्रि 8.30

मैं न निंद्य बनूँ न निन्दा करूँ

(गुणी व गुण प्रशंसक मैं बनूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

निंद्य न बनूँगा निन्दा न करूँगा, बनूँगा सुगुणी व गुणग्राही।

मेरा स्वभाव तो सच्चिदानंदमय, निर्मल निर्विकार समतामय॥ (1)

सभी के गुण-दोष जानते तीर्थकर, तथापि पापी से भी न करते घृणा।

किसी की भी निन्दा अपमान न करते, नहीं करते द्वेष न करते हत्या॥ (2)

हर जीव (के) कल्याण हेतु करते उपदेश, दोष दूर हेतु भी करते (है) निर्देश।

पाप व पापी को भी जानते पूर्णतः, रहते वीतरागी व शांत निर्लिप्त॥ (3)

ऐसा ही अन्य सभी धार्मिक भी करते, गणधर से लेकर श्रमण तक।

सुदृष्टि से लेकर श्रावक व सज्जन (तक), स्व-भूमिका अनुसार यथायोग्य॥ (4)

सम्यग्दृष्टि के होते हैं अनेक गुण, दोष ढाँकना होता है उपगूहन।

दोष दूर करना होता है स्थितिकरण, वात्सल्य होता है प्रभावना अंग॥ (5)

इसके बिना कोई न होता है धार्मिक, न धर्म होता है धार्मिक बिना।

गुणों का समूह ही होता है गुणी, गुणों से रहित होता है दुर्गुणी॥ (6)

सद्वृत्तों का होता गुण कथन, मनन-चिन्तन व पूजन वंदन।

आरती-प्रार्थना स्तुति अर्चना, वंदे तद्गुणलब्धये आराधना॥ (7)

इसी से प्रमुदित होता है मन, गुण गुणी में प्रमुदित मन।

जिससे पाप कर्म होता निवारण, सातिशय पुण्य का (भी) होता बंधन॥ (8)

दोष कथन में होता मौन धारण, अपरिश्रावी यह गुण महान्।

इसी में समाहित क्षमा सहिष्णु गुण, ईर्ष्या द्वेष घृणा भाव शून्य॥ (9)

गुप्त रहस्यों का नहीं कथन गुण, सत्यव्रत व भाषा समिति गुण।

वचन गुप्ति हित मित प्रिय वचन, अद्वेषकारी व अकलह वचन॥ (10)

निंदा/(दोष कथन) से होता उक्त गुणों का नाश, पृष्ट मांस भक्षण का लगता दोष।

गुणनाश से होता धर्म विनाश, मिथ्यात्व और पापों का होता प्रवेश॥ (11)

निंदा (फल) से श्रीपाल बना कुष्ठ रोगी, अपमानित हुई अंजना सुंदरी।

जलकर मरे (भी) साठ सहस्र पापी, होते हैं निन्दित व रोगी॥ (12)

अतएव निन्दा मैं किसी की न करूँ, दोष दूर हेतु ही कथन करूँ।

वात्सल्य से योग्यजन को कहूँ, स्व-परहित 'कनक' मैं चाहूँ॥ (13)

संदर्भ-

दोष कथक जिनधर्मी नहीं

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे।

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णोसिं कहेदि ते दोसे॥ (490) भ.आ.

भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषों को आचार्यों से कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान् के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरों से कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसा करने वाला आचार्य जिनधर्म से बाह्य होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना

तेणं रहस्सं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो।

अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव॥ (491)

उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने ऐसा करके उस साधु का ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्त में यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा

इसके दोष प्रकट कर देने पर वह लज्जित होकर दुःखी होगा अथवा आत्मघात कर लेगा, या क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को ही छोड़ देगा तथा उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं उसके मिथ्यात्व की आराधना का दोष भी होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना क्यों?

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चव आयरिओ।

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो।। (496)

यदि आचार्य अपने शिष्यों को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दोषी करते हैं तो इन अपुष्ट धर्म वाले श्रमणों को धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे।

इच्चेवमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सधारिस्स।

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स।। (497)

जो आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे शिष्य के द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य गुप्त रखने वाला अपरिश्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते।

मैं प्रशंसनीय गुणी बनूँ व गुण-गुणी की प्रशंसा करूँ

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की....., छोटी-छोटी गैया.....)

प्रशंसनीय गुणी मैं भी बनूँ, गुण गुणी की प्रशंसा भी करूँ।

वात्सल्य प्रमोद भाव मैं धरूँ, स्वयं को प्रसन्न व अन्य को करूँ।।

धर्म में इसे कहते अनुमोदना, गुणानुराग स्तुति (प्रार्थना) वंदना।

पूजा आरती या अर्चना सम्मान, विनय बहुमान गुण कीर्तना।।

पूजनीय प्रति होती प्रार्थना वंदना, पूजा आरती या स्तुति अर्चना।

अन्य गुणी सत्कर्म प्रति होती प्रशंसा, सभी सत्कर्म में अनुमोदना।।

श्लोक- स्तुतिः पुण्य गुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्न धीः।

निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम्।। (सहस्रनाम)

स्तुति होती है पुण्य गुणों की कीर्ति, स्तोता होता है भव्य प्रसन्न बुद्धि।

निष्ठितार्थ पूज्य होते हैं स्तुत्य, फल मिलता है नैश्रेयस सुख॥

श्लोक- उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।

भक्तेः सुन्दर रूपं स्तवनात्कीर्तिं स्तपोनिधिषु॥ (25 रत्नक.)

उच्चगोत्र मिले प्रणाम करने से भोग मिले है दान देने से।

पूजा होती है उपासना से सुन्दर रूप भी मिले भक्ति से॥

कीर्ति मिलती है स्तवन करने से, तीर्थकर प्रकृति बंधे वैयावृत्ति से।

ये सब फल मिले (हैं) गुरु भक्ति से, गुण प्रशंसा व अनुमोदना से॥

आहारदाता को जो फल मिलता, प्रशंसाकर्ता को भी (वह) फल मिलता।

आदिनाथ भगवान् के उदाहरण ज्ञेय, श्रेयांस-भरत के दृष्टांत ज्ञेय॥

अन्य गुण गुणी व सत्कर्मकर्ता की, प्रशंसा अनुमोदना करने की।

होते हैं लाभ स्व-पर अन्य के, प्रोत्साहन तथा प्रेरित होने के॥

प्रोत्साहनकर्ता भी बनते प्रसन्न, प्रफुल्लित होते तन व मन।

उन्हें भी मिलता है आदर सम्मान, सेवा सहयोग एकता बहुमान॥

प्रशंसनीय के भी बढ़े (हैं) आत्मविश्वास, नेगेटिव थिंकिंग का होता है नाश।

प्रेरित व प्रोत्साहित भी वे होते, उत्तम कार्य हेतु प्रयास करते॥

तनाव भय से भी (वे) निवृत्त होते, सुखद अनुभव से समृद्ध होते।

कृतज्ञ व सहयोगी भी बनते, वैर-विरोध व ईर्ष्या भी त्यागते॥

इत्यादि होते हैं अनेक लाभ, इसलिए मैं करता हूँ सही तारीफ।

आशीर्वाद पुरस्कार भी मैं देता, 'कनकनन्दी' को गुणी/(गुण) ही भाता॥

रायचन्द व चापलूस नहीं बनूँगा, हतोत्साहित भी नहीं करूँगा।

उगना व प्रलोभन नहीं करूँगा, सच्चे-अच्छे प्रामाणिक बनूँगा॥

निन्दा-प्रशंसा के स्वरूप एवं फल

(राग : रघुपति राघव....., शायद मेरी (नरेन्द्र)....., जय हनुमान.....)

निन्दा व प्रशंसा के स्वरूप को जानों, दोनों से उत्पन्न फल पहचानों।

निन्दा है गुण-द्वेष असूया भाव सह, गुण व गुणी प्रति अनादर सह॥

प्रशंसा इसी से है विपरीत भाव, गुण व गुणी प्रति आदर भाव।

निन्दक में अनेक दुर्गुण भी होते, ईर्ष्या द्वेष घृणा पक्षपात होते।।

जोंक मच्छर सर्प गृहमक्खी सम, गुणी में भी करता दुर्गुण आरोपण।

इसी से बहुविध पाप ही कमाता, नीच गोत्र व असाता को बान्धता।।

निन्दक पृष्ट माँस भक्षी सम होता, कीर्ति हनन रूपी हिंसा को करता।

निन्दा रसपान में मदमस्त होता, गुणी सज्जनों से बहिष्कृत होता।।

कलह झगड़ा व विद्वेष फैलाता, प्रेम संगठन शान्ति को तोड़ता।

परभव में नीच गोत्र में जन्मता, तिर्यञ्च नारकी म्लेच्छ में जन्मता।।

निन्दा अपमान रोगों को भोगता, परिवार समाज से तिरस्कृत होता।

इसी से विपरीत प्रशंसक होता, गुण-गुणी प्रति प्रमुदित होता।।

मधुमक्खी हंस गाय सम होता, सुगुण रस को ग्रहण करता।

इसी से प्रशंसक प्रसन्न होता, स्व-पर के गुणों का विकास करता।।

प्रेम संगठन शान्ति को बढ़ाता, कलह झगड़ा विद्वेष घटाता।

उच्च गोत्र व साता वेदनीय बाँधता, देव मानव भोगभूमि में जन्मता।।

सम्मान कीर्ति सुख को भोगता, परिवार समाज में पुरस्कृत होता।

चापलूसी नहीं है यथार्थ प्रशंसा, दोष परिमार्जन नहीं यथार्थ निन्दा।।

वेश्या व उग के वचन न प्रशंसा, प्रायश्चित्त आलोचना गर्हा न निन्दा।

प्रशस्त वचन से होती प्रशंसा, अप्रशस्त वचन से होती है निन्दा।।

प्रार्थना स्तुति पूजादि प्रशंसा, गली अपशब्द झूठ वचन निन्दा।

वचन से व्यक्तित्व पहचान होता, प्रशंसा से उच्च निन्दा से नीचा।।

उच्च विचार उच्च कथन करणीय, 'कनकनन्दी' द्वारा उच्च ही वरणीय।

निन्दा प्रशंसा से परे है आध्यात्मिक, शुभ करणीय अशुभ त्यजनीय।।

मौन की आत्मकथा

(मौनात् मुनि, मौनात् कलह नास्ति, मौनं सर्वार्थ साधनम्)

(राग : भक्ति बेकरार है....., छोटू मेरा....., तुम दिल की.....)

मौन मेरा नाम है, शांति प्रदान काम है।

समता भाव से वचन निवृत्ति, मनन तथा चिन्तन है।।ध्रुवपद।।

राग-द्वेषमय संकल्प-विकल्प त्याग से मेरा जन्म है।
तत्त्व चिन्तन व आत्म मनन से विकसित मेरा बदन है।।

हेय-उपादेय चिन्तन द्वारा त्याग व ग्रहण करता हूँ।
ज्ञान-ज्ञेय व परिज्ञान से, ज्ञान की वृद्धि करता हूँ।।

वचन-निवृत्ति मन स्थिर व ज्ञान की वृद्धि होने से।
मनन चिन्तन समता द्वारा, शान्ति की प्राप्ति मुझसे।।

अप्रिय कठोर विकथा मिथ्या, कलहकारी वचन है।
मेरे कारण होते पलायन, नाश होता अतिवचन है।।

इससे वाद-विवाद न होता, कलह-झगड़ा नहीं होता।
समय शक्ति की क्षति न होती, शब्द प्रदूषण नहीं होता।।

मानसिक स्थिरता की वृद्धि होती, विवेक-ज्योति प्रगट होती।
स्मरण शक्ति विकसित होती, समीक्षा-प्रज्ञा प्रखर होती।।

शान्ति तृप्ति धृति बढ़ती, संवेदना अनुभूति बढ़ती।
तन-मन आत्मा की शक्ति बढ़ती, ध्यान-अध्ययन की शक्ति बढ़ती।।

मेरे कारण भाषा समिति/(व) वचन गुप्ति की साधना होती।
सत्य व हित-मित प्रिय वचन की, सिद्धि भी मुझसे सरल होती।।

“मौनात् मुनि” “मौनात् कलह नास्ति” मेरे कारण प्रसिद्ध हुए।
“मौन सर्वार्थ साधन” जैसे नियम भी मुझसे हुए।।

तीर्थकर बुद्ध गणधर/(ऋषि) मुनि, मुझसे अधिक प्रेम करते।
मंत्र साधक वैज्ञानिक दार्शनिक लेखक विद्यार्थी/(भी) नेह करते।।

‘कनकनन्दी’ तो बाल्यकाल से, घंटा दिन माह वर्ष मुझे पालते।
औसत दो-तीन घंटा छोड़कर अधिकांश समय मुझे धरते।।

पंच प्रकार स्वाध्याय छोड़कर, प्रायः दिनभर मौन रखते।
हर चतुर्दशी तथा हर रात्रि, अपवाद छोड़ मौन रखते।।

स्नान भोजन पूजन भजन, मल मूत्र त्याग व मैथून में।
मेरी आराधना करना विधेय, ध्यान-अध्ययन श्रवण में।।

अधिक सुनना कम बोलना, यह है परम विवेक जानो।
यातें विधि ने दिया है दो कान, जीभ तो एक ही मानो।।

मेरी आत्मकथा 'कनकनन्दी' ने किया है सही वर्णन।
जो मानव मेरी आराधना करते, पाते है शान्ति ज्ञान मान।।

'कनकनन्दी' की लेखनी द्वारा मैं हुआ हूँ मुखरित।
जो मुझे धारण करे वह, होता है उपकृत।।

वचन असंयम के कारण

(राग : इतनी शक्ति....., छोटी-छोटी गैया.....)

मौनात् मुनि होते परम ज्ञानी, मौन साधना से बनते केवलज्ञानी।
मौन साधना यदि सम्भव नहीं, हित मित प्रिय कथन सही।।

इसी हेतु सत्यधर्म पालते, भाषा समिति व गुप्ति पालते।
अणुव्रत महाव्रत सत्य पालते, अल्प मधुर व हित बोलते।।

इन्हीं गुणों से जो रहित होते, संयम धैर्य को नहीं धरते।
वाचाल निन्दक प्रमादी होते, असत्य कठोर अति बोलते।।

सत्य-तथ्य ज्ञान से रहित होते, भावात्मक अनेकान्त नहीं पालते।
स्याद्वाद कथन को नहीं करते, संतुलित वचन नहीं बोलते।।

क्रोध मान माया से सहित होते, घृणा तृष्णा से सहित होते।
मर्यादा शालीनता नहीं पालते, सम्यक् वचन वे नहीं बोलते।।

तनाव डिप्रेशन युक्त होते, भय व विद्वेष भाव रखते।
हिताहित विवेक नहीं रखते, असत्य अनर्गल बातें करते।।

सोच विचार कर नहीं बोलते, कार्यकारण सम्बन्ध नहीं जोड़ते।
विषय परिज्ञान नहीं करते, यथार्थ वचन से रहित होते।।

छिन्दान्वेषी निन्दक भाव रखते, दूसरों का सम्मान नहीं करते।
परिणाम सम्बन्धी नहीं सोचते, प्रकृष्ट वचन वे नहीं बोलते।।

कर्म सिद्धान्त को जो नहीं मानते, मनोविज्ञान को नहीं जानते।
दण्ड विधान से अज्ञ रहते, सच्चा अच्छा वचन नहीं बोलते।।

ध्यान अध्ययन नहीं करते, अभ्यास अनुप्रेक्षा नहीं करते।
सरल सहज मृदु न होते, कठोर अविनयी दुष्ट होते।।

महान् लक्ष्य व उच्चा विचार हीन, समय शक्ति का सदुपयोग विहीन।
किंकर्तव्य विहीन सहित जन, वचन संयम में न होते प्रवीण।।

उपरोक्त कारणों से सहित जन, एकाधिक कारणों से सहित जन।
असम्यक् कथन वे ही करते, कारण के बिना कार्य नहीं होते।।

गम्भीर धैर्यवान् संयमी बनो, अनुशासन प्रियशालीन बनो।
मौन रहो या सत्य ही कहो, 'कनक' के हितकारी वचन गहो।।

“निन्दा-प्रशंसा से अप्रभावी होता है सुखी”

(आदर्श बनने के सूत्र)

(राग : इक परदेशी मेरा दिल ले गया.....)

सुखी/(महान्/आदर्श) बनने के कुछ उपाय करो, (आदर्श बनने के कुछ सूत्र अपनाओ)
सुगुण वृद्धि के द्वारा प्रयास करो...

अहंकार दीन-हीन भाव भी तजो, प्रशंसा-निन्दा से स्वगुण विकास करो।
प्रशंसनीय गुणों को बढ़ाते चलो, निन्दनीय कुगुणों को घटाते चलो।। (टेक)
प्रशंसा-निन्दा से स्वगुण घटाओ नहीं, प्रशंसा से अहंकार बढ़ाओ नहीं।
निन्दा से भी विचलित होना नहीं, सुगुण त्यागकर कुगुण स्वीकारो नहीं।
ईर्ष्यालु सुगुणी की भी निन्दा करता, चापलूस स्वार्थवश प्रशंसा करता।। (1)

समता भाव रख सुगुण बढ़ाओ, निन्दा प्रशंसा से अप्रभावी बन जाओ।
सुगुण रक्षार्थे सनम्र सत्यग्राही बनो, दृढ़ संकल्पी धैर्यशील साहसी बनो।
सतत प्रयत्नशील उदार बनो, प्रगतिशील गुणग्राही विवेकी बनो।। (2)

निन्दा से बचने का उपाय करो रे, निन्दनीय कुकृत्यों को सर्वदा तजो रे।
निन्दा से विचलित हुआ न करो रे, निन्दा से सुगुणों को त्याग न करो रे।
आकाश के सम निर्लिप्त व्यापक बना, निन्दा-प्रशंसा से परे जिया करो।। (3)

प्रशंसा हेतु आडम्बर किया न करो रे, नींव के बिना महल खड़ा न करो रे।
निन्दा से डरकर सुगुण न त्यागो रे, उल्लू हेतु सूर्य को तम न मानो रे।

निन्दा-प्रशंसा दोनों कर्म सापेक्ष होते, कर्म रहित गुणों को पाया ही करो।। (4)
 सूर्य सम स्व गुणों से प्रकाशी बनो रे, उल्लू सम निन्दकों से डरा न करो रे।
 दीपक सम पूजकों से मोह न करो रे, तटस्थ भाव से प्रकाश फैलाया करो रे।
 “कनकनन्दी” सदा साम्य के पुजारी, सुखेच्छुक भी बने साम्य पुजारी।। (5)

व्यक्तिगत निन्दा से परे

(चाल : सायोनारा....., शत-शत वंदन.....)

व्यक्तिगत निन्दा मैं न करूँ, सुधार हेतु भले दोष मैं कहूँ।
 गुण दोष विश्लेषण भले ही करूँ, चुगली चापलूसी मैं न करूँ।।

व्यक्ति पूजक भी मैं न बनूँ, गुण-गुणी पूजक सदा मैं बनूँ।
व्यक्ति चर्चा भी मैं नहीं करूँ, व्यक्तिगत चर्चा भले मैं करूँ।।

समाज-राष्ट्र या विश्व के हेतु, सामूहिक रूप में समीक्षा करूँ।
 गुण-ग्रहण दोष के त्याग हेतु, सामूहिक दोषों को प्रकट करूँ।।

तीर्थकर बुद्ध आचार्य गुरु भी, ऐसा कथन करते थे।
 ग्रंथों में मैंने पढ़ा ऐसा, विश्व हित हेतु कहते थे।।

योग्य शिष्य या भक्तजनों को, सुधार हेतु मैं दोष बोलूँ।
अयोग्य शिष्य या दुष्ट जनों को, साम्य भाव रखूँ कुछ न बोलूँ।।

अन्यथा राग द्वेष जन्म लेते, कलह विद्वेष द्वंद्व होते।
 समता शांति मेरी नशती, साधना मेरी मलिन होती।।

सामूहिक प्रवचन भले मैं करूँ, व्यक्तिगत को मैं गौण करूँ।
 साधना व्यक्तिगत मैं करूँ, ‘कनक’ आत्महित प्रथम करूँ।।

वाद-विवाद कलह से शीघ्र मरण

(चाल : तुम दिल की धड़कन में....., क्या मिलिये ऐसे लोगों से.....)

वाद-विवाद न करणीय, कलह-विसंवाद वर्जनीय।
 शांति व समता वरणीय, संक्लेश दुराग्रह वर्जनीय।।धु.।।

बहस झगड़ा नहीं हितावह, इसी से होता है आयु क्षय।

वैज्ञानिक शोध अभी हुआ, आगम में वर्णन पूरा/(पूर्व) हुआ।।
वैज्ञानिक शोध से ज्ञात हुआ, मृत्यु दर इसी से अधिक पाया।
दो गुना, तीन गुना ज्यादा हुआ, विज्ञान को कारण ज्ञात न हुआ।।

आगम से कारण ज्ञात होता, कलह से पाप बंध अधिक होता।
पूर्व पुण्यकर्म (भी) क्षीण होता, संक्लेश से आयुर्कर्म क्षीण होता।।
अपवर्तन आयुष इसे कहते, कदलीघात मरण (भी) इसे कहते।
अकाल मरण नाम से यह प्रसिद्ध, कर्मसिद्धांत में यह (है) सिद्ध।।

प्रेम संगठन भी विनष्ट होते, सहयोग समन्वय विनष्ट होते।
शांति समता भी विनाश होती, आधि-व्याधि भी विविध होती।।
सत्य समता व शांति श्रेय, इसी से होता है अभ्युदय।
तन-मन-आत्मा होते स्वस्थ, 'कनक' को ग्राह्य है परमार्थ।।

व्यंग्यात्मक कविता

निन्दा की महिमा

-श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती

(चाल : गंगा तेरा पानी अमृत.....)

निन्दा तेरी धारा अजस्र झर-झर बहती जाय।

अनादि काल से वर्तमान में भी अविरल बहती जायऽऽऽ...धु.

मान-माया व ईर्ष्या-घृणा है तेरी सहोदरा।

कुट-कपट प्रसिद्धि चाह से है तेरा भाई-चारा।

निन्दक का तेरे बिना न होता है गुजाराऽऽऽ।। निन्दा...(1)

बहु जनों को भी समझ न आवे मैं निन्दा कर रहा हूँ।

देखी सुनी ही बात करते है यह है तेरी महिमा।

दुर्जनों का तेरी संगती से होता समय गुजाराऽऽऽ।। निन्दा...(2)

पृष्ठ माँस भक्षण सम दोष (लगे) नीच गोत्र का बंध।

असत्य भाषण व मायाचारी से पाप कर्म का बंध।

अपयश होवे विश्वास घटता, मित्रता भी टूट जायऽऽऽ।। निन्दा...(3)

सुखी घर व समाज राष्ट्र में निन्दा से होता विघटन।
पर मुख से स्व निन्दा सुनकर मन करता है क्रन्दन।
निन्दा पुराण के ही कारण वत्सलता मिट जायऽऽऽ॥ निन्दा...(4)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 20.01.2016, मध्याह्न 1.07

स्वयं को धन्य मानो

(चाल : तुम दिल की....., भातुकली.....)

धन्य मानो! धन्य मानो! धन्य मानो! स्वयं को धन्य मानो!

जिन दर्शन से धन्य मानो! निज/(आत्म) दर्शन से भी धन्य मानो! (1)

शास्त्र श्रवण से भी धन्य मानो! आत्म ज्ञान से भी धन्य मानो!

गुरु दर्शन से भी धन्य मानो! गुरु सेवा से भी धन्य मानो! (2)

मिथ्यात्व त्याग से धन्य मानो! सत्य (विश्वास) श्रद्धान से भी धन्य मानो!

ज्ञान प्राप्ति से धन्य मानो! अज्ञान नाश से भी धन्य मानो! (3)

हिंसा त्याग से धन्य मानो! दया पालन से भी धन्य मानो!

झूठ (निन्दा) त्याग से धन्य मानो! सत्य कथन से भी धन्य मानो! (4)

चोरी त्याग से धन्य मानो! प्रामाणिकता से भी धन्य मानो!

कुशील त्याग से धन्य मानो! ब्रह्मचर्य से भी धन्य मानो! (5)

परिग्रह त्याग से धन्य मानो! अपरिग्रह से भी धन्य मानो!

व्यसन त्याग से धन्य मानो! आदर्श जीवन से भी धन्य मानो! (6)

फैशन त्याग से धन्य मानो! सादा जीवन से भी धन्य मानो!

दान सेवा से धन्य मानो! परोपकार से भी धन्य मानो! (7)

क्षमा पालन से धन्य मानो! क्रोध त्याग से धन्य मानो!

मृदुता भाव से धन्य मानो! अहंकार त्याग से भी धन्य मानो! (8)

सरल भाव से धन्य मानो! कुटिल त्याग से भी धन्य मानो!

शुचिता भाव से धन्य मानो! लोभ त्याग से भी धन्य मानो! (9)

संयम भाव से धन्य मानो! असत्य त्याग से भी धन्य मानो!

तप त्याग से धन्य मानो! तृष्णा त्याग से भी धन्य मानो! (10)

श्रावक धर्म (पालन) से धन्य मानो! श्रमण बनने से भी धन्य मानो!
ध्यान-अध्ययन से धन्य मानो! सातिशय पुण्य से भी धन्य मानो! (11)

संवर निर्जरा से धन्य मानो! 'मोक्ष प्राप्ति' से धन्य बनो!

आत्मोपलब्धि से ही धन्य जीव! 'कनक' स्वयं को धन्य बनाओ! (12)

अद्याभवत्-सफलता नयन द्वयस्य, देव! त्वदीय-चरणाम्बुज-वीक्षणेन।
अद्य-त्रिलोक-तिलक! प्रतिभासते मे, संसार वारिधिस्यं चुलुक प्रमाणः॥ (5)

(ईर्या. भक्ति)

अद्य में क्षालितं गात्रं नेत्रे च विमलीकृते।

स्नातोऽहं धर्म-तीर्थेषु जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥ (6) (ईर्या. भक्ति)

चित्ते मुखे शिरसि पाणि-पयोज-युग्मे, भक्ति स्तुति विनति-मञ्जलि-मञ्जसैव।
चेक्रीयते चरिकरीति चरीकरीति, यश्चर्करीति तव देव! स एवं धन्यः॥ (13)

(ईर्या. भक्ति)

रूपं ते निरुपाधि सुन्दरमिदं, पश्यन् सहस्रेक्षणः,

प्रेक्षा कौतुक कारिकोऽत्र भगवन् नेपैत्यवस्थान्तरम्।

वाणीं गद्गद्यन् वपुः पुलकयन्, नेत्र द्वयं श्रावयन्,

मुद्गानं नमयन् करौ मुकुलयंश्चेतोऽपि निर्वापयन्॥ (15) (ईर्या.भक्ति)

ग.पु.कां., सागवाड़ा, दिनांक 21.01.2016, प्रातः 8.57

आचार्यों के महान् गुणों की स्तुति

(आचार्य प्राज्ञ-आगमज्ञ-लोकज्ञ-अनिन्दक आदि गुणों से युक्त होते)

(आचार्य के अधिकांश गुण उपाध्याय व साधु में भी होते हैं)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की.....(शत-शत वंदन).....)

धन्य हे! आचार्य...धन्य हो तुम...कितने महान् गुण युक्त हो...

छत्तीस मूल गुण सहित होकर भी...पाठक (व) साधु गुण युक्त हो...(स्थायी)...

महान् प्राज्ञ हो! शास्त्रज्ञ तुम हो!...लोकज्ञता में प्रवीण हो...

ख्याति पूजा लाभ से विरक्त होकर...हित-मित-स्पष्ट बोलते हो...

महान् गुणी हो! प्रशमवान् हो!...प्रश्न पूर्व ही उत्तर जानते हो...

प्रश्नों को तुम सहने वाले हो!...अनिन्दक मनोहारी कथक हो...(1)...

समर्थवान् हो! ज्ञानवान् हो!...गुण-दोष ज्ञाता व लोकज्ञ हो...

तो भी गुणग्राही...दोषअपरिस्त्रावी/(अनिन्दक)...गुणनिधि तुम सूरीश्वर हो...

धर्मकथा/(परमागम) उपदेशक हो...विकथा व निन्दा से रिक्त हो...

द्रव्य क्षेत्र काल भाव अनुसार...उपदेश सम्यक् ही करते हो...(2)...

मन-वचन-काय व कृत कारितादि...नवकोटि से पावन भाव युक्त हो...

मोक्षमार्ग प्रवर्तन प्रतिबोधन में...सतत प्रयत्नशील रहते हो...

बुधजनों से भी वंदित होकर...अहंकार से आप रहित हो...

लोकेष्णा रहित लोकज्ञता सहित...मृदुता गुण से सहित हो...(3)...

आचार पालक आचरण प्रशिक्षक...शांति मर्यादा के पालक हो...

ज्ञान वैराग्य व समता क्षमा के...आप पालक उपदेशक हो...

निस्पृह निराडम्बर आत्मविशुद्धि में...आप तो सदा लीन रहते हो...

‘कनकनन्दी’ तो तव अनुयायी...आपको मेरा शत-शत वंदन...(4)...

उपाध्याय साधुओं में भी आपके...अनेक गुण होते हैं...

अट्टावीस (28) मूलगुण भी तीनों...परमेष्ठी में होते हैं...

प्रायश्चित्त व दीक्षा के अतिरिक्त...आप सम उपाध्याय होते हैं...

मौन साधना में तो साधु परमेष्ठी...आत्म-साधना करते हैं...(5)...

संदर्भ-

वद-समिदि-गुत्ति-जुत्ता मुत्ति-पहे ठाविया पुणो अण्णो।

अज्झावय-गुण-णिलया साहु-गुणेणावि संजुत्ता।। (4)

आचार्य व्रत समिति गुप्ति से सहित होते हैं, वे मुक्तिपथ में अन्य को भी स्थापित करते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी के गुणों से सहित होते हैं व साधु गुण से भी संयुक्त होते हैं।

उत्तम-खमाए पुढवी पसण्ण-भावेण अच्छ-जल-सरिसा।

कम्मिंधण-दहणादो अगणी वाऊ असंगादो।। (5)

उत्तम क्षमा में पृथ्वी के समान आचार्य होते हैं, प्रसन्न भाव में स्वच्छ जल की

सरिता के समान होते हैं, कर्मरूपी ईंधन को दहन करने के लिए आचार्य अग्नि के समान होते हैं व वायु के समान निसंग (परिग्रह रहित, निर्गन्ध व अनासक्त) होते हैं।

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः।

प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः॥

प्रायः प्रश्रसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया।

ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ (5) आ.पृ.4

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित है, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुका है, लोकव्यवहार से परिचित है, अर्थलाभ और पूजा प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित है, नवीन-नवीन कल्पना की शक्ति रूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यता रूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शांत है प्रश्न करने के पूर्व में ही प्रश्न उपस्थित होने की संभावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाला है अर्थात् न तो उनसे घबराता है और न ही उत्तेजित होता है, श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके चित्त को आकर्षित करने वाला अथवा उनके मनोगत भाव को जानने वाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है, ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है।

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने।

परणतिरूरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ॥

बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मदुताऽस्पृहा।

यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम्॥ (6)

जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धांत का जानकार है, जिसका चरित्र तथा मन, वचन व काय की प्रवृत्ति पवित्र है, जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्षमार्ग के प्रचार रूप समाचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कार आदि करते हैं, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोकमर्यादाओं के जानकार हैं, सरल परिणामी हैं, इस लोकसंबंधी इच्छाओं से रहित हैं, तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान है, वही हेयोपादेय विवेकज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है।

देशं कालं तथा क्षेत्र भावं पात्रं विविच्य यः।

समयाचारमाचाराद्देशकः स गुरुः सताम्॥ (113) पृ. 66 सिद्धांतसार

देश काल भाव क्षेत्र और पात्र (जिसको व्रत दिये जाते हैं) तथा आगम में कहा हुआ आचार इन सब बातों का योग्य विचार करके आचार का उपदेश करने वाले यतीश्वर स्वजनों के गुरु हैं।

“विभिन्न उपमा व विशेषणों से श्रमण की स्तुति”

(विभिन्न पशु व भौतिक वस्तुओं से श्रमण की उपमा)

(चाल : तुम दिल की...(शत-शत वंदन...), सायोनारा.....)

धन्य हे ! गुरुवर...धन्य हो तुम...कितने विशेषण सहित हो...

अनेक श्रेष्ठ विशेषणों के...भाव से आप सहित हो...(ध्रुव)...

समुद्र के सम गम्भीर हो...सुमेरू के सम अचल हो...

सूर्य सम तेजस्वी हो...चन्द्र के सम शीतल हो...

वायु के सम निःसंग हो...चन्दन के सम सुगन्ध हो...

सिंह के सम पराक्रमी हो...गज के सम स्वाभिमानि हो...अनेक...(1)

बैल के समान भद्र हो...मृग के समान सरल हो...

पशु (गो) सम निरीह गोचरी...भ्रामरी वृत्ति सहित हो...

मणि के सम प्रभापुञ्ज हो...क्षिति के सम सहिष्णु हो...

सर्प सम अनियत वासी हो...आकाश सम निरालम्बी/(निर्लिप्त) हो...(2)

यथाजात बालक सम नग्न...सरल-सहज दिगम्बर हो...

पदविहारी-कमण्डलधारी...मयूर पिच्छी सहित हो...

पाणिपात्र आहारी (शुद्ध) शाकाहारी...अयाचक वृत्ति सहित हो...

केशलौचकारी स्वावलंबनधारी...धीर-वीर व गंभीर हो...अनेक...(3)

धैर्यं जिनके पिता...क्षमा है माता...शान्ति ही जिनकी गृहिणी...

सत्य है पुत्र...दया ही भगिनी...भ्राता है मन-संयम...

शय्या है भूमितल...दिशा ही वसन...ज्ञान अमृत है भोजन...

भूषण रत्नत्रय...मोक्ष लक्ष्य...वैभव है आकिञ्चन्य...अनेक...(4)

ऐसे विविध गुण अलौकिक...अनुपम सह होते श्रमण गुरु...
 आप साक्षात् जीवन्त धर्म...दशधा धर्म भी आप गुरु...
 नवविध देवता तेरे ही रूप...विविध कार्य-कारण सम्बन्ध...
 तव स्वरूप व भक्ति मैं चाहूँ... 'कनक' श्रमण का अनुबंध...अनेक...(5)

सन्दर्भ-

धैर्य्य यस्य पिता क्षमाश्च जननी शान्तिश्चिर गृहिणी।

सत्य सुनूरयं दया च भगिनी भ्रातः मनः संयमः।

शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्।

ये ते यस्य कुटुम्बिनी वद सखे कस्मात् भीतो योगिनः॥ (रत्नत्रयभूषणम्)

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिदु-मणी।

खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमगया साहू॥३३॥

सकल कर्म भूमीषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः। धवला, पृ.51

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जो अनंत ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुणियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी-वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गंभीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वत के समान परिषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहने वाले, चन्द्रमा के समान शांतिदायक, मणि के समान प्रभा-पुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदि में निवास करने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालंबी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं। संपूर्ण कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार हो।

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,

स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै,

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।। (नियमसार, पृ.18)

‘अभिमत फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिये उनके प्रसाद से ही इष्ट-मोक्ष की सिद्धि होने से वे आप्त प्रबुद्ध ज्ञानी जनों के द्वारा पूज्य होते हैं क्योंकि साधुजन किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।’

परामनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक शोधपूर्ण कविता

सकारात्मक-वर्णन : धर्मग्रंथों में सर्वाधिक

(भारतीय धर्मग्रंथों में वर्णित परम-सकारात्मकता)

(चाल : तुम दिल की....., सायोनारा.....)

धर्म में तो सकारात्मक वर्णन...ग्रंथों में सर्वाधिक पाया जाता है...

भले उसका सही परिज्ञान...सभी लोग नहीं कर पाते हैं...(स्थायी)...

आधुनिक विज्ञान से लेकर जो...मोटिवेशन/(मैनेजमेंट) में वर्णन है...

उससे भी अधिक वर्णन तो...धर्मग्रंथों में पाया जाता है...

धर्मग्रंथों में वर्णित है...सच्चिदानंदमय हर जीव है...

सत्य शिव सुंदर अनंत गुणमय...स्वयंभू स्वयंपूर्ण हर जीव है...(1)...

जो जीव स्वयं को ऐसा मानता...उसको होता है आत्मविश्वास...

उसका ज्ञान होता है सम्यग्ज्ञान...विचार होता है सकारात्मक...

ऐसा जीव नकारात्मक विचारों को...मानता है अनात्म रूप...

जिससे वह नकारात्मक...विचारों को त्यागने का करे यत्न...(2)...

क्रोध मान माया लोभ ईर्ष्या...द्वेष घृणा वैरत्व अपमान...

अंधश्रद्धा व अंधानुकरण...चिन्ता निन्दा अभिमान...

हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह...शोषण मिलावट भ्रष्टाचार...

वाद-विवाद व कलह-झगड़ा...अवसार व दुर्विचार...(3)...

आलस्य प्रमाद किंकर्तव्यमूढता...लक्ष्यहीन व निरुद्देश्य...

फैशन-व्यसन-विलासिता आदि को...त्यागे नकारात्मक मानकर...

इन सब नकारात्मक भावों को...मानता है पाप स्वरूप...

जो आत्मा का पतन करे...वह है पाप स्वरूप...(4)...

जिससे आत्मा का होता विकास...उसे मानता है धर्म स्वरूप...

स्वर्ग से लेकर मोक्ष के...उपाय को मानता है धर्ममय...

आत्म विकास से विश्व कल्याण...तक मानता है धर्ममय...

आत्म शांति से विश्व शांति...तक मानता है धर्ममय...(5)...

मोक्ष से ही जीव बनता है...पूर्ण सच्चिदानंद स्वरूप...

अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय...शुद्ध बुद्ध शाश्वत रूप...

केवल भौतिक उपलब्धि हेतुक...नहीं है सकारात्मकता...

आत्मोपलब्धि के कारणभूत...विचार है परम सकारात्मकता...(6)...

ऐसे परम विचार सहित ही...होते हैं सच्चे धार्मिक...

ऐसे ही परम विचार/(लक्ष्य के कारण)...‘कनक’ बना है धार्मिक...(7)...

नव कोटि से स्वात्म भावना सर्वोत्तम

व परचिन्ता अधमाधमा

(राग : तुम दिल की धड़कन.....)

श्लोक- उत्तमा स्वात्मचिन्तास्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।

अधमा कामचिन्तास्यात्, परचिन्ताऽधमाधमा॥ (परमानन्द स्तोत्र)

हिन्दी- उत्तम स्वात्म चिन्ता है, मोह चिन्ता है मध्यमा।

अधमा काम चिन्ता है, पर चिन्ता अधमा अधमा॥

श्लोक- अविद्याभिदुरं ज्योति, परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥ (49 इष्टोपदेश)

हिन्दी- अज्ञान नाशक ज्ञान प्रकाशक, आत्म ज्योति है अति महान्।

उसके लिए ही करो जिज्ञासा, उसे ही चाहो उसे ही पाओ॥

श्लोक- तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ इ.उ.पृ.196

हिन्दी- उसे ही बोलो उसे ही पूछो, उसे ही चाहो उसे ही पाओ/(वैसे ही बनो)।
जिससे अज्ञान रूप को त्यागकर, विद्यामय रूप पाओ/(विद्यामय रूप बनो)॥

समीक्षा- आत्मचिन्ता है सबसे उत्तम, जिससे मोह का होता विनाश।
जिससे होते हैं आत्मविश्वास, ज्ञान चारित्र का भी होता विकास।
इसे ही कहते हैं रत्नत्रय जो, मोक्ष के कारण महान्।
आत्मज्ञान व आत्मध्यान के माध्यम से मानव बनो है भगवान्॥
मोहचिन्ता को मध्यम कहा, मोह जानकर उसका त्याग।
बिन जानते दोषगुणन को, कैसे ग्रहण व कैसे हो त्याग॥
अधम कामचिन्ता है जिससे, आसक्ति की होती है वृद्धि।
तृष्णा उत्पादक व बंधकारक, संसार चक्र की होती (है) वृद्धि॥
परचिन्ता है अधमा-अधमा, पर हेतु जो राग-द्वेष करे।
पर निन्दा अपमान करे व ईर्ष्या घृणा व मोह करे॥
इससे होते हैं वाद-विवाद, कलह विसंवाद युद्ध हत्या।
होते हैं अनेक अनर्थ काम, अतएव पर चिन्ता अधमाधमा॥
परन्तु अज्ञानी मोही जीव, करते हैं विपरीत भाव व काम।
आत्म चिन्ता तो नहीं करते, शेष तीनों चिन्ता के करते काम॥
अष्टमद सप्त व्यसन सेवते, करते क्रोध लोभ माया/(भोग)।
आत्म चिन्तक को गलत मानकर, बाँधते पापघोर तम॥
गुण-गुणी निन्दक होते महापापी, बाँधते वे घोर घाति कर्म।
जिससे संसार में मिले नाना दुःख, अतएव अकरणीय पाप कर्म॥
गुण-गुणी प्रशंसा व अनुमोदना से, होता है पाप कर्म क्षीण।
अतएव आत्मगुण-गुणी प्रशंसा, करने हेतु कनक का सदा मन॥

कर्ता व भोक्ता स्वयं जीव

(अच्छे-बुरे या धर्म सब कुछ जीव स्वयं के लिए करते)

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

जो कुछ भी जीव करते हैं व सोचते स्वयं के लिए ही वे करते हैं।

अच्छे बुरे या धार्मिक सभी के, फल स्वयं को ही तो मिलते हैं॥ (1)

मन-वचन-काय कृत कारित से, करते भी जीव जो अनुमत से।

पुण्य-पाप या धर्म-अधर्म सभी, करते हैं जीव स्वयं के ही लिए॥ (2)

क्रोध-मान-माया-लोभ-काम-मोह, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह।

दान-दया-सेवा-त्याग-परोपकार, ध्यान-अध्ययन-तप स्वयं के लिए॥ (3)

ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-परनिंदा-अपमान, मिलावट-शोषण आदि कुकाम।

समता-शांति व क्षमा-सहिष्णुता, स्वयं के फल को जीव स्वयं ही पाते॥ (4)

सुकृत-दुष्कृत व आध्यात्मिक के फल, पाते हैं जीव स्व-भाव-व्यवहार से।

बीजानुसार ही यथा फल-फूल आते, भोजन अनुसार यथा परिणाम पाते॥ (5)

नवकोटि से जीव जो कर्म बांधते, तदनुकूल जीव फल को पाते।

पुण्य से अभ्युदय तो पाप से पतन, इह-परलोक में फल ये पाते॥ (6)

ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग से, समता-शांति व सहिष्णुता से।

आत्मविशुद्धि से पुण्य-पाप नष्ट कर, शुद्ध-बुद्ध व ज्ञानानंद को पाते॥ (7)

अतः हर जीव स्वयं के सुख हेतु, पाप त्यागकर करना चाहिए पुण्य।

शाश्वतिक सुख हेतु कर्म नाशकर, बनना श्रेय है सच्चिदानंदमय॥ (8)

कर्म सिद्धांत का रहस्य भी यह है, मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक रहस्य।

इह-परलोक आध्यात्मिक सुख के उपाय, आध्यात्मिक सुख ही 'कनक' का अंतिम

लक्ष्य॥ (9)

संदर्भ-

एवं कत्ता भोक्ता होज्जं अप्पा सगोहिं कम्मोहिं।

हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो॥ (69)

इस प्रकार अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है-

विश्व प्रधान कर्म परि राखा।

जो जस करहिं फलहि तस चाखा।।

अमितगति आचार्य ने कहा भी है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृत कर्म निरर्थकं तदा।। (30)

पहले जो जीव पुण्य एवं पाप कर्म करता है उसका ही फल शुभ एवं अशुभ रूप से प्राप्त करता है। यदि कोई दूसरे के द्वारा दिये गये शुभ या अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तो स्वयं किया हुआ कर्म निरर्थक हो जायेगा।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्याऽपि ददापि किंचन।

विचार यन्नेवमनन्य मानसः, परो ददतीति विमुञ्च शेषीम्।। (31)

सामायिक पाठ

अपने उपार्जित कर्म छोड़कर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दुःख नहीं देता है ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन्! तू एकाग्रचित्त हो और दूसरा देता है इस बुद्धि को छोड़।

विनय का व्यापक स्वरूप व फल

(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-संयम-तप-पूजा-प्रार्थना-प्रशंसा-बहुमान-सत्कार-सेवा-दान आदि प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विनय का व्यापक रूप है व इन सबकी उपलब्धि-सातिशय-पुण्य-स्वर्ग-मोक्ष इसके प्रत्यक्ष-परोक्ष-परम्परा के फल।)

(चाल : आत्मशक्ति....., तुम दिल की....., चौपाई.....)

विनय के व्यापक स्वरूप को जानो नवकोटि से विनय को मानो/(अपनाओ)।

गुण-गुणी प्रति विनय करो, स्वर्ग (व) मोक्ष सुख वरण करो।। (1)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप विनय औपचारिक रूप में पंच विनय।

उक्त गुणों का विनय (है) गुण विनय, गुण युक्त गुरु विनय गुणी विनय।। (2)

ऐसा ही यथायोग्य देव-शास्त्र विनय इसी से होता है सम्यग्दर्शन।

ज्ञान-चारित्र-तप यथार्थ/(इसी से) होते स्वर्ग मोक्ष सुख/(फल) इसी से मिलते।। (3)

श्रद्धा भक्ति सत्कार बहुमान, स्वागत पूजा व आरती वंदन।

आसनदान स्तुति गुण कीर्तन दान सेवा आदि विनय-सम्मान॥ (4)

(समक्ष) उपस्थित में होता प्रत्यक्ष विनय अनुपस्थित में परोक्ष विनय।

तथाहि केवल प्रार्थना/(आरती) पूजन तीर्थ वंदना/(स्तुति) ही नहीं पूर्ण विनय॥ (5)

नमोऽस्तु करना ही नहीं पूर्ण विनय, उक्त सभी गुण होते पूर्ण विनय।

विनय पाठ ही नहीं पूर्ण विनय शारीरिक प्रत्यक्ष ही नहीं पूर्ण विनय॥ (6)

विनय मोक्ष के द्वार स्वरूप सर्व कल्याणदायक/(अंतरंग) तप स्वरूप।

निरहंकार व गुणग्राही स्वरूप, भाव विशुद्धि आर्जव स्वरूप॥ (7)

पाप नाशक सातिशय पुण्य कारक उच्च गोत्र-कीर्ति सुंदर रूप दायक।

श्रद्धा-प्रज्ञा-चारित्र्य प्रदायक अतएव विनय करे सतत 'कनक'॥ (8)

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 15.01.2016, (मकर संक्रांति) रात्रि 8.15

विनय संबंधी आगमोक्त शोधपूर्ण कविता

विनय का स्वरूप व फल

(विनय फल=सर्व कल्याण)

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत.....)

देवशास्त्र-गुरु व गुण-गुणी के, विनय करो है नवकोटि से।

श्रद्धा-प्रज्ञा की भी होगी वृद्धि, मोक्ष भी मिलेगा परम्परा से॥

“विनय मोक्ष द्वार” कहा है विनय से, होते है संयम तप व ज्ञान।

विनय से रहित जो होते उनके, न होते संयम तप व ज्ञान॥ (1)

अनंतानुबंधी क्रोध मान माया, लोभ मोह से जो होते सहित।

वे न विनय कर सकते हैं, विनयवान् होते इनसे रहित॥

उक्त क्रोधादि से जो जीव रिक्त होते, उनमें होता श्रद्धा-प्रज्ञा का उदय।

वे ही यथार्थ से होते सम्यग्दृष्टि, उनमें विनय का होता उदय॥ (2)

इसके बिना जीव अहंकारी होते, अथवा होते लौकिक विनय युक्त।

अष्ट मद से सहित होते या, अर्थ कामादि विनय से युक्त॥

मोक्ष विनय/(लोकोत्तर) या लौकिक विनय, रूप से होता है विनय दो प्रकार।

लोकोत्तर विनय तो स्वर्ग-मोक्ष द्वार, लौकिक विनय से बढ़े संसार॥ (3)

अर्थ विनय काम विनय भय विनय, लौकिक व स्वार्थ विनय।

ये सभी नहीं है मोक्ष विनय, ये तो सांसारिक रीति-रिवाज के काम।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-उपचार, विनय है लोकोत्तर विनय।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप संयुक्त, साधुओं का विनय (है) लोकोत्तर विनय।। (4)

उनका आदर सत्कार करना, उनकी प्रशंसा व पूजा करना।

उनकी व्यवस्था व सेवा करना, स्वागत वंदना उच्चासन देना।।

उपसर्ग परीषह दूर करना, शीत उष्ण की बाधा भी हरना।

आहार औषधि उपकरण (वसतिका) देना, भक्ति सह अनुकूल व्यवहार करना।। (5)

नवकोटि से यह सब करना, प्रत्यक्ष व परोक्ष में भी करना।

निन्दा-अपमान आदि न करना, करने वालों को मना करना।।

मान रहित व संसार से विरक्त, सरल सहज जो निरालस।

गुण-गुणी प्रशंसक साधु संघ भक्त, होते हैं विनय से सहित।। (6)

इसी से होता है गुरुजनों का बहुमान, तीर्थकरों की भी आज्ञा पालन।

श्रुत धर्म की भी आराधना भाव-विशुद्धि आर्जव संतोष (आदि) गुण।।

श्रद्धा-भक्ति-आरती-पूजा-वैयावृत्ति, दान प्रशंसा व बहुमान।

विनय गुण के हैं विभिन्न रूप, धर्म का यह है प्रथम सोपान।। (7)

अतएव विनय सदा करणीय जो, सद्गुणवर्द्धक व दुर्गुण/(पाप) नाशक।

मोक्ष विनय है मोक्ष के द्वार, मोक्ष हेतु करे विनय सदा 'कनक'।। (8)

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 11.01.2016, रात्रि 7.40

ज्ञानार्जन की पद्धति

ज्ञान विनय व ज्ञानदानादि से मिलता है केवलज्ञान

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे.....)

जिया रे! तू ज्ञान विनय/(ज्ञानदान) करो!SSS

जिससे मिलेगा (तुझे) केवलज्ञानSSS परिनिर्वाण अनंत/(शाश्वत)SSS...(ध्रुव)...

केवल पुस्तक रटने मात्र सेSSS मिले न सच्चा ज्ञानSSS

केवलज्ञान हेतु ज्ञान विनय करोSSS करो तू भी ज्ञान दानSSS

निर्मलभाव से करो (दोनों) कामऽऽऽ ख्याति पूजा लाभ विहीनऽऽऽ...जिया (1)...

ज्ञान व ज्ञानी का विनय तू करोऽऽऽ करो बहुमान-गुणगानऽऽऽ
नियम मर्यादा व अष्ट शुद्धि सहऽऽऽ करो है सदा ज्ञान अर्जनऽऽऽ
विनम्र सत्यग्राही बनऽऽऽ अहंकार संकीर्णता हनऽऽऽ...जिया (2)...

शिक्षा गुरु व पठित ग्रंथों काऽऽऽ तू कर पूजन कीर्तनऽऽऽ
दोनों का स्मरण व नाम कथनऽऽऽ न करने से होगा कर्म/(पाप) बंधनऽऽऽ
अनिहव पाप तू हनऽऽऽ गुरु-ग्रंथों का कर (नाम) कथनऽऽऽ...जिया (3)...

अध्ययन करो जिज्ञासा भी करोऽऽऽ करो चिन्तन-मनन-स्मरणऽऽऽ
शोध-बोध सह/(हेतु) प्रयोग करोऽऽऽ करो समन्वय (जोड़ रूप) सह ज्ञानऽऽऽ
रूढ़ि-हठग्राहिता छोड़ोऽऽऽ अनेकांत (मय) ज्ञानी बनोऽऽऽ

वीतराग विज्ञानी/(भेद विज्ञानी बनो)ऽऽऽ...जिया (4)...

ज्ञानदान भी करो निर्मल भाव सेऽऽऽ ख्याति पूजा लाभ रहितऽऽऽ
स्वाध्याय कराओ ग्रंथ भी छपाओऽऽऽ ज्ञान का प्रचार/(प्रसार) करोऽऽऽ
यथायोग्य नवकोटि सेऽऽऽ तन मन धन समय सेऽऽऽ...जिया (5)...

ज्ञानी व ज्ञान का करो न अनादरऽऽऽ न करो विघ्न-निन्दा-अपमानऽऽऽ
कृत-कारित-अनुमोदना न करोऽऽऽ करने वालों का परिहार करोऽऽऽ
उपसर्ग-परीषह दूर करऽऽऽ (जिससे) होगा ज्ञानावरणीय (कर्म) दूरऽऽऽ...जिया (6)...

(जिससे) तेरे ज्ञान में होगा विकासऽऽऽ परंपरा से मिलेगा ज्ञान अशेष/(अनंत)ऽऽऽ
अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सहऽऽऽ मिलेंगे अनंत गुण अक्षयऽऽऽ
'कनक' तू बनेगा सर्वज्ञऽऽऽ 'कनक' का यह परम लक्ष्यऽऽऽ

'कनक' का स्व-शुद्ध स्वरूपऽऽऽ...जिया (7)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 20.01.2016, रात्रि 8.52

संदर्भ-

आचार्य कुंदकुंद ने मूलाचार में विनय के संबंध में निम्न प्रकार कहा है-
दंसणणाणेविणओ चरित्तवओचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ।।364।।

दर्शन में विनय, ज्ञान में विनय, चरित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय निश्चित रूप से पाँचवीं गति अर्थात् मोक्ष गति में ले जाने वाला प्रधान कहा गया है, ऐसा समझना अर्थात् विनय मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है।

दर्शन विनय

उवगूहणादिआ पुव्वुत्त तह भत्तिआदिआ य गुणा।

संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण।।365।।

उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना आदि ये पूर्व में कहे गये हैं तथा पंच परमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके प्रति लगाये गये अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना, उनको असादना अर्थात् अवहेलना का परिहार करना-ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और अन्य दृष्टि-मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा इनका त्याग करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है।

जे अत्थपज्जया खलु उंसणविणयो हवदि एसो।।366।।

सूक्ष्म और बादर के भेद से जिन जीव-अजीव आदि पदार्थों का जिनेन्द्र देव ने द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व रूप श्रुतज्ञान में स्पष्ट रूप से उपदेश दिया है, जो भव्य जीव उन पदार्थों का उसी प्रकार से जैसे का तैसा विश्वास करता है तथा जिस परिणाम से श्रद्धान करता है वह परिणाम ही दर्शन विनय है।

ज्ञान-विनय

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।

वंजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अट्टविहो।।367।।

द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वी को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन-फेरना काल विनय है।

उन्हीं ग्रंथों का (या अन्य ग्रंथों का) हाथ-पैर धोकर पर्यकासन से बैठकर अध्ययन करना विनय शुद्धि नाम का ज्ञान-विनय है। नियम विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रंथ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उसी प्रकार से जिस ग्रंथ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रंथ

या उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिह्व है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यंजन शुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थ शुद्ध विनय है और इन दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभय शुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए।

ज्ञान की विशेषता

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि।

णाणेण कुणदि णायं णाणं णाणविणीदो हवदि एसो।। (368)

ज्ञान विद्या को प्राप्त कराता है। ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है। ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय-सत्प्रवृत्ति करता है जो ऐसा करता है वह ज्ञान विनय होता है।

प्रश्न-दर्शनाचार और दर्शन विनय में क्या अंतर है? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञान विनय में क्या अंतर है?

उत्तर-शंकादि परिणामों के परिहार में प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान में प्रयत्न दर्शन विनय है। पुनः शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वों के श्रद्धान में यत्न करना दर्शनाचार है। उसी प्रकार काल शुद्धि आदि विषय अनुष्ठान में प्रयत्न करना काल आदि विनय है तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव आदि के विषय में प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। काल शुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणों में अर्थात् ग्रंथ, उपाध्याय आदि में प्रयत्न करना श्रुत विनय है।

उसी प्रकार से जो तप को अज्ञानतम को दूर करता है और आत्मा को मोक्षमार्ग के समीप करता है वह तपो विनय है और नियमित मति होना है वह भी तप का विनय है ऐसा जानना चाहिए।

चारित्र विनय का स्वरूप

इन्द्रियकसायपणिहाणपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।

एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो।।369।।

चक्षु आदि इन्द्रियाँ और क्रोधादि कषायों का प्रणिधान प्रसार की हानि का होना अर्थात् इन्द्रियों के प्रसार का निवारण करना और कषायों के प्रसार का निवारण करना अथवा इन्द्रिय और कषायों का परिणाम अर्थात् उनमें होने वाले व्यापार का निरोध करना यह इन्द्रिय कषाय प्राणिधान है। मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति गुप्तियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उच्चार प्रस्रवण प्रतिष्ठापना ये पाँच समितियाँ

हैं। यह सब चारित्र्य विनय संक्षेप से कहा गया है। यहाँ पर भी समिति और गुप्तियाँ चारित्र्याचार हैं और उनकी रक्षा के उपाय में जो प्रसन्न हैं वह चारित्र्य विनय है।

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्वा च।

आवासयाणमुचिदाणं अपरिहाणीयणुस्सेहो॥370॥

आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम-उत्साह रखना उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षय के लिए निमित्त हैं। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि नहीं करना अर्थात् ये आवश्यक छह ही हैं। इन्हें चार या पाँच नहीं करना तथा सात या आठ भी नहीं करना। जिस आवश्यक की जो वेला है उसी वेला में वह आवश्यक करना चाहिए, अन्य वेला में नहीं। अन्यथा हानि-वृद्धि हो जायेगी तथा जिस आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग बताये गये हैं, उतने ही करना चाहिए, उनकी हानि या वृद्धि नहीं करना चाहिए।

भत्ती तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।

एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्त साहुस्स॥371॥

जो तपश्चर्या में अपने से अधिक है वे तपोधिक होते हैं। उनमें तथा बारह प्रकार के तपश्चरण के अनुष्ठान में भक्ति अर्थात् अनुराग रखना। स्तुति के परिणाम को अथवा सेवा को भक्ति कहते हैं सो इनकी भक्ति करना। शेष जो मुनि अनुत्कृष्ट तप वाले हैं अर्थात् अधिक तपश्चरण नहीं करते हैं उनका तिरस्कार-अपमान नहीं करना। सभी संयतों में प्रणाम की वृत्ति होना यह सब तपो विनय है जो कि आगमानुकूल चारित्र्यधारी साधु के होता है।

औपचारिक विनय

काइयवाइयमाणसिओ त्ति अतिविहो दु पंचमो विणओ।

सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो च॥ (372)

काय से होने वाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो स्वर्ग मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप हैं। वह

तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के भी तीन भेद है और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष में है, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर है तब उनका विनय प्रत्यक्ष विनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर हैं तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्ष विनय है।

कायिक विनय का स्वरूप

अब्भुट्टाणं किदिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं।

पच्चूगच्छणमेत्ते पछिदस्सणुसाहणं चेव।। (373)

मुण्ड अर्थात् ऋषियों को सामने देखकर आदरपूर्वक आसान से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके वंदना करना, अंजलि जोड़कर सिर झुकाकर नमस्कार करना नमन है। यहाँ मुण्ड का अर्थ ऋषि है अथवा 'मुण्ड' का अर्थ सामान्य वंदना है अर्थात् भक्ति पाठ के बिना नमस्कार करना मुण्ड वंदना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करने वाले पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिए। उनकी प्रतिभक्ति पाठ करते हुए कृति कर्म करना चाहिए तथा उन्हें अंजलि जोड़कर नमस्कार करना चाहिए। साधुओं के जाते समय सम्मुख जाकर स्वागत करना चाहिए और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे जाना चाहिए।

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं।

आसणदाणं उवगरणादाणं ओगासदाणं च।। (374)

देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना (विनय से एक तरफ खड़े होना) गुरु के साथ चलते समय उनके बायें चलना या पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ, पाटे आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिए निवेदन करना अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु, सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ-पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनम्रता रखना।

पडिरुवकायसंफासणदा य पडिरुपकालकिरिया य।

पेसणकरणं संश्रकरणं उवकरण पडिलिहणं।। (375)

गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्ण काल में शीत क्रिया, शीतकाल में उष्ण क्रिया करना और वर्षाकाल में उस ऋतु के योग्य क्रिया करना अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनकी प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना, उनके लिए संस्तर अर्थात् चटाई, घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरिरेण।

एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स।। (376)

इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है, क्योंकि वह काय के आश्रित है।

वाचिक विनय का स्वरूप

पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।

सत्ताणुवीचिवयणं अणिटुरमकक्कसं वयणं।। (377)

आप भट्टारक इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पूजा वचन है। हितपथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के कारणभूत, वचन, हितवचन है। मित परिमित बोलना जिसमें अल्प अक्षर हो किन्तु अर्थ बहुत हो मित वचन है। मधुर मनोहर अर्थात् कानों को सुखदायी वचन मधुर वचन है। आगम के अनुकूल बोलना कि जिस प्रकार से पाप न हो सूत्रानुविधि वचन है। तुम जलो, मरो, प्रलय को प्राप्त हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्टुर वचन है। कठोरता रहित वचन अकर्कश वचन है अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमिगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।

एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो।। (378)

क्रोध, मान आदि से रहित वचन उपशांत वचन है। गृहस्थों के जो मकार-वकार आदि रूप वचन है उनसे रहित वचन तथा बंधन, त्रासन, ताड़न आदि से रहित वचन अगृहस्थ वचन है। असि, मषि, कृषि आदि क्रियाओं से रहित वचन

अक्रिय वचन है अथवा सक्रिय ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना, किन्तु अंत की चिंता और अन्य के दोष रूप वचन नहीं बोलना चाहिए। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिए। किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नहीं बोलना अहीलन वचन हैं और भी ऐसे ही वचन जहाँ होते हैं वह सब वाचिक विनय है जो कि यथायोग्य करना चाहिए।

मानसिक विनय का स्वरूप

पापविसोत्तिअपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।

णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ॥ (379)

हिंसादि को पाप कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना को विश्रुति कहते हैं। इन पाप और विराधना विषयक परिणामों का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिए हित संज्ञा है। इन प्रिय और हित में परिणाम को लगाना। संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होने वाला मानसिक विनय कहलाता है।

इय एसो पच्चव्वखो विणओ पारोक्खिओवि जं गुरुणो।

विरहम्मि वि वट्टिज्जदि आणाणिहेसचरियाए॥ (380)

यह सब ऊपर कहा गया कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योंकि यह गुरु के रहते हुए उनके पास में किया जाता है और गुरुओं के विरह में-उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर है, उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्या करने से होता है अथवा अर्हत भट्टारक द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थों में श्रद्धान करना तथा उनके द्वारा जो भी व्रत समिति आदि चर्याएँ कही गयी हैं, उन रूप प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है अर्थात् उनके प्रत्यक्ष में किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष में किया गया नमस्कार, आज्ञा पालन आदि विनय परोक्ष विनय है।

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहा समासदो भणिओ।

सत चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए॥1381॥

जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करने वाला होना है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गये हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है

वाचिक विनय चार प्रकार का है, मानसिक विनय दो प्रकार का है-
अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं।।
अवहवोवचारिओ खलु विणओ दुविहो सभासदो होदि।
पडिरूबकालकिरियाणासादणसीलदा चेव।।
पडिरूवो काङ्गवाचिगमाणसिगो दु बोधव्वो।
सत्त चदुव्विह दुविहो जहाकमं होदि भेदेण।।382।।

अभ्युत्थान गुरुओं को सामने आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना। सन्नति सिर से प्रणाम करना। आसनदान पीठ, कक्षासन, पाटा आदि देना। अनुप्रदान-पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना। प्रतिरूप क्रियाकर्म यथायोग्य-श्रुत भक्ति आदिपूर्वक, कायोत्सर्ग करके वंदना करना अथवा गुरुओं के शरीर के प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा शुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना, जैसे कि शीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि। आसन त्याग-गुरु के सामने उच्च स्थान पर नहीं बैठना। अनुव्रजन उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना। इस प्रकार से-(1) अभ्युत्थान, (2) सन्नति, (3) आसनदान, (4) अनुप्रदान, (5) प्रतिरूप क्रियाकर्म, (6) आसन त्याग और अनुव्रजन ये सात प्रकार कायिक विनय के होते हैं।

अर्थात् धर्मात्मा के चित्त पर अनुग्रह करने वाला औपचारिक विनय संक्षेप से दो प्रकार है। **प्रतिरूप काल क्रिया विनय**-गुरुओं के अनुरूप काल आदि को देखकर क्रिया अर्थात् भक्ति सेवा करना। **अनासादनशीलता विनय**-आचार्यों आदि की निन्दा नहीं करने का स्वभाव होना, ऐसे दो भेद हैं। प्रतिरूप विनय कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का है। कायिक विनय सात प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का, मानसिक विनय दो प्रकार का है।

वाचिक और मानसिक विनय के भेद

हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्वं।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपावत्तोओ चेव।।
हिदमिदमद्ववअणुवीचीभासणो वाचिगो, हवे विणओ।

असुहमणसण्णरोहो सुहमणसंकप्पगो तदिओ॥३८३॥

हित भाषण-धर्म संयुक्त वचन बोलना, मित भाषण जिसमें अक्षर अल्प हो, अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण-कारण सहित वचन बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन के नहीं बोलना, अनुवीचि भाषण-आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आस्रव करने वाले अशुभ मन को रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है।

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दोनों प्रकार का विनय साधुओं को किनके प्रति करना चाहिए? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

अर्थात् हित भाषण, मित भाषण, मृदु भाषण और आगम के अनुकूल भाषण यह वाचिक विनय है। अशुभ मन का विरोध करना और शुभ में मन लगाना ये दो मानसिक विनय के भेद हैं।

जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरूसेण वा।

मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे॥२७॥

प्रिय अथवा कठोर शब्दों से आचार्य मुझ पर जो अनुशासन करते हैं वह मेरे लाभ के लिए हैं-ऐसा विचार कर प्रयत्नपूर्वक उनका अनुशासन स्वीकार करें।

अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं।

हियं तं मन्नए पण्णो वेसं होइ असाहुणो॥२८॥

आचार्य का प्रसंगोचित्त कोमल या कठोर अनुशासन दुष्कृत का निवारक होता है। उस अनुशासन को बुद्धिमान शिष्य हितकर मानता है। असाधु-आयोग्य के लिए वही अनुशासन द्वेष का कारण बन जाता है।

हियं विगय-भया बुद्धा, फरूसं पि अणुसासणं।

वेसं तं होइ मूढाणं खन्ति-सोहिकरं पयं॥२९॥

भय से मुक्त, मेधावी प्रबुद्ध शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। किन्तु वही क्षमा एवं चित्त विशुद्धि करने वाला गुरु का अनुशासन मूर्खों के लिए द्वेष का निमित्त हो जाता है।

खड्डुया मे चवेडा में अवकोसा य वहा य मे।

कल्लाणमणुसासन्तो पावदिट्ठि त्ति मन्नई॥३८॥

गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को पाप दृष्टि वाला शिष्य ठोकर और चाँटा मारने, गाली देने और प्रहार करने के समान कष्ट कारक समझता है।

पुत्तो मे भाय नाइत्ति, साहू कल्लाण मन्नई।

पावदिट्टी उ अप्पाणं सासं दासं व मन्नई॥39॥

गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह आत्मीय समझकर शिक्षा देते हैं-ऐसा सोचकर विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है। परन्तु पाप दृष्टि वाला कुशिष्य हितानुशासन में शासित होने पर अपने को दास के समान हीन समझता है।

न कोवए आयरियं अप्पाणं पि न कोवए।

बुद्धोबधाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए॥40॥

शिष्य को चाहिए कि वह न तो आचार्य को कुपित करे और न उनके कठोर अनुशासनादि से स्वयं ही कुपित हो। आचार्य का उपघात करने वाला न हो और न गुरु को खरी-खोटी सुनाने के फिराक में उनका छिद्रान्वेषी हो।

आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिण पसायए।

विज्जवेज्ज पंजलिउडो वएज्ज 'न पुणो' त्ति य॥41॥

अपने किसी अभद्र व्यवहार से आचार्य को अप्रसन्न हुआ जाने तो विनीत शिष्य प्रीति वचनों से उन्हें प्रसन्न करें। हाथ जोड़कर उन्हें शांत करे और कहे कि “मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा।”

मणोगयं वक्कगयं जाणित्ताऽऽयरियस्स उ।

त परिगिज्ज वायाए कम्मणा उववायाए॥43॥

शिष्य आचार्य के मनोगत और वाणीगत भावों को जानकर उन्हें सर्वप्रथम वाणी से ग्रहण (स्वीकार) करे और फिर कार्य रूप में परिणत करें।

वित्ते अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए।

जहोवइट्ठं सुकयं किच्चाइं कुव्वई सया॥44॥

विनयी रूप से प्रसिद्ध शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरित न किये जाने पर भी कार्य करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। प्रेरणा होने पर तो तत्काल यथोपदिष्ट कार्य अच्छी तरह सम्पन्न करता है।

एवं विणय जुत्तस्स सुत्तं अत्थं च तदुभयं।

पुच्छमाणस्स सीसस्स वागरेज्ज जहासुयं॥23॥

विनयी शिष्य के द्वारा इस प्रकार विनीत स्वभाव से पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय-दोनों का यथाश्रुत (जैसा सुना और जाना हो वैसे) निरूपण करें।

रमए पण्डिए सासं हयं भदं व वहए।

बालं सम्मइ सासन्तो गलियस्सं वाहए।।37।।

मेधावी शिष्य को शिक्षा देते हुए आचार्य वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे कि वाहक (अश्वशिक्षक) अच्छे घोड़े को हाँकता हुआ प्रसन्न रहता है। अबोध शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही खिन्न होता है, जैसे कि दुष्ट घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक !

नच्चा नमइ मेहावी लोए किती से जायए।

हवई किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा।।45।।

विनय के स्वरूप को जानकर जो मेधावी शिष्य विनम्र हो जाता है, उसकी लोक में कीर्ति होती है। प्राणियों के लिए पृथ्वी जिस प्रकार आधार होती है उसी प्रकार योग्य शिष्यसमय पर धर्माचरण करने वालों का आधार बनता है।

पुज्जा जस्स पसीयन्ति संबुद्धा पुव्वसंथुया।

पसन्ना लाभइस्सन्ति विउलं अट्टियं सुयं।।46।।

शिक्षण काल से पूर्व ही शिष्य के विनय भाव से परिचित संबुद्ध पूज्य आचार्य उस पर प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न होकर वे उसे अर्थ गंभीर विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं।

स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए, मणोरूई चिट्ठइ कम्म संपया।

तवोसमामारिसमाहिसंबुडे, महज्जुई पंच वयाई पालिया।।47।।

वह शिष्य पूज्य शास्त्र होता है-अर्थात् उसका शास्त्रीय ज्ञान जनता में सम्मानित होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को प्रिय होता है वह कार्य संपदा को अर्थात् साधु समाचारी से युक्त होता है। वह तप समाचारी और समाधि से सम्पन्न होता है। पाँच महाव्रतों का पालन करके वह महान् तेजस्वी होता है।

स देव गन्धव्व-मणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंक पुव्वयं।

सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्डिए।।48।।

वह देव गंधर्व और मनुष्यों से पूजित विनयी शिष्य मल पंक से निर्मित इस देह को त्याग कर शाश्वत सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला महान् ऋद्धि सम्पन्न देव होता है।

अयोग्य शिष्य व सुयोग्य शिष्य

(कलिकाल (पञ्चम काल) के कुटिल-जड़ स्वभावी जन)

(चाल : बड़ा नटखट है रे....., जिन्दगी इक सफर है....., सायोनारा....., ऐ के लाल दरवाजे.....)

हाय रे! पञ्चम/(कलि)..काल के जन/(लोग)...जड़ व कुटिल..तेरे स्वभाव...

श्रद्धा-प्रज्ञाहीन..जड़ स्वभाव...धूर्त-पाखण्ड..तेरे स्वभाव...

सत्य-समता..रहित भाव...हो...हाय रे!...(स्थायी)...

हुण्डा अवसर्पिणी..काल के जन...बगल में छुरी..मुँह में राम नाम...

भेड़-भेड़िया व..बगुला सम...काम तेरे..मंथरा-शकुनि सम...

पर सुख कातर..तेरे काम...हाय रे!...(1)...

मिथ्यात्व सहित..जन्म है तेरे...निरतिशय पुण्य व..पाप है तेरे...

भौतिकता में..आसक्ति घनेरे...अस्त-व्यस्त व..संत्रस्त घनेरे...

तनाव उदासीन..दबाव (डिप्रेशन) घनेरे...हाय रे!...(2)...

संकीर्ण-लौकिक..स्वार्थ सहित...पढ़ाई-धर्म आदि..काम समस्त...

फेम-नेम व..गेन के हेतु...तेरे भाव-व्यवहार..पाप के हेतु...

सर्वगुण काञ्चन..माश्रयन्ते (स्व) भाव...हाय रे!...(3)...

अधभरी घघरी..रिक्त चना सम...ढोल के समान..बाजे घनाघन...

ज्ञान-ध्यान-दान/(त्याग)..अनुभव हीन...दिखावा-आडम्बर..वाचलतापूर्ण...

गुण विहीन बहु..जल्पयन्ति सम...हाय रे!...(4)...

निन्दा-चुगली व..छिद्रान्वेषण (युक्त)...जोंक-मच्छर सम..पर पीड़ा युक्त...

ईर्ष्या-द्वेष-घृणा..द्वंद्व/(कलह) सहित...फूट-लूट व..संक्लेश सहित...

निन्दा रस सेवी..कलह प्रिय...हाय रे!...(5)...

पर-उपदेशी..रायचन्द सम...धोबी-गधा व..टॉर्च के सम...

सुमेरू सम स्व..दोष न दिखते...अन्य के गुण भी..दोषमय दिखते...

पृष्ठ माँस भक्षी..सम स्वभाव...हाय रे!...(6)...

दया-दान-सेवा..परोपकार रिक्त...शोषण-मिलावट..ठगी सहित...

इह-परलोक..अपकार सहित...मृत्यु अनन्तर..दुर्गाति सहित...

चार्वाक सम..भौतिकवाद सहित...हाय रे!...(7)...

(कुछ) निकट भव्य उक्त..दुर्गुण रिक्त...श्रद्धा-प्रज्ञा व..त्याग सहित...

विनम्र सत्यग्राही..धर्म सहित...दान दया सेवा..परोपकार युक्त...

‘कनक’ ऐसे व्यक्ति को..माने धार्मिक...हाय रे!...(8)...

ऐसे भव्यों को ही गुरु..देते उपदेश...अयोग्य व्यक्ति को न..देते उपदेश...

भद्र मिथ्यादृष्टि को भी..देते उपदेश...सनम्र सत्यग्राही जो..उदार चित्त...

आगम में विस्तार से..यह सब वर्णित...हाय रे!...(9)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 16.01.2016, मध्याह्न 2.17

“सरल रेखा के सम होता है सत्य-न्याय”

(नवकोटी से पाँच पापों को चार कषायों से

करना अन्याय, इससे भिन्न न्याय)

(वैश्विक सत्य-न्याय का सार)

(चाल : दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना.....)

मानव ने कानून/(न्याय) को जटिल बना दिया, संकीर्ण स्वार्थ हेतु बेईमान

/(अन्याय) बना दिया।

न्याय तो सीधा-सादा सत्य व समता है, जीओ व जीने दो वैश्विक न्याय है।।

स्वयं भी सुखी रहो अन्य भी सुखी रहे, आत्मानि प्रतिकूलानि परेषां न समाचरे।

मन व वचन काय व कृत कारित, अनुमत से कुकृत्य जो होते वे अन्याय।।

कुकृत्य है हिंसा असत्य चौर्य मैथुन, परिग्रह संचय सहित अन्य शोषण।

क्रोध-मान-माया व लोभ से कृत कर्म, स्व-पर हानिकर सर्व अन्याय कर्म।।

इसीसे विपरीत सर्व ही न्याय कर्म, अन्याय संशोधन सर्व न्यायिक कर्म।

इसी के निर्णायक होते वे न्यायाधीश, कुकृत्य परिहार करते न्यायाधीश।।

सर्वोच्च न्यायाधीश होते केवली/(शास्ता), निर्दोष समदर्शी आप्त व सर्वज्ञाता।

अनाप्त जन द्वारा बाये जाते जो न्याय, पक्षपात व दोष पूर्ण वे होते न्याय।।

तानाशाही व लूटेरे राजा से बने जो न्याय, औपनिवेशिक न्याय न होते सही वे न्याय।

यथा रावण कंस हिटलर के जो न्याय, ब्रिटेन द्वारा बनाये गये औपनिवेशिक न्याय।।

ऐसे न्याय के द्वारा किये जाते जो न्याय, वे तो बन्दर-न्याय व अन्यायपूर्ण-न्याय।
 न्याय तो सरल रेखा के समान होता, कुटिल जटिल व कृत्रिम नहीं धोखा।।
 असत्य न्याय ही इसी से भिन्न भी होता, बन्दर-न्याय व शकुनि-न्याय सम होता।
 लिखित न्याय से ही न्याय न सही होता, कालाकोट टाई से कोई न जज होता।।
 साक्षी मात्र से न्याय पूर्ण न सत्य होता, दलालों-वकील से न्याय न पूर्ण होता।
 सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण जो सम सत्य होता, निर्दोष प्रामाणिक निष्पक्ष न्याय होता।।
 इसी से ही निर्णय शीघ्र व सत्य होता, सुयोग्य वैद्य यथा रोग को दूर करता।
 राजा विक्रमादित्य अभयकुमार सम, होते जो न्यायाधीश देते हैं न्याय साम्य।।
 न्याय न व्यापार है नहीं है प्रतिशोध, चिकित्सा समान न्याय तो करता संशोधन।
 सर्वोच्च है दण्डदाता होता है कर्म, 'जैसी करनी वैसी भरनी' देता है कर्म।।
 दोष परिमार्जन ही न्याय का कर्म, जिससे मिलता जीवों को समता शर्म।
 प्रामाणिक जीव स्वयं (का) होता न्यायाधीश, दण्डनीय होता वह जो है होता सदोष।।
 आत्म विश्लेषण ही यथार्थ अभिवक्ता/(वकील), दोष परिशोधन ही न्याय सकल।
 सर्वोच्च न्याय व्यवस्था दिया था भारत, आर्थिक सामाजिक से आध्यात्मिक तक।।
 वह देश आज न्याय में पिछड़ा हुआ, सत्यानवं (97) देशों में अठहत्तर
 (78) स्थान में रहा।
 रूल ऑफ लॉ इंडेक्स (2012) जो रिपोर्ट आया, वर्ल्ड जस्टिस प्रोजेक्ट द्वारा
 जो रिसर्च हुआ।।

उसमें यह स्थान मान भारत पाया, श्रीलंका से भी भारत पिछड़ गया।
 करोड़ों केसों का अभी तक न हुआ निर्णय, निर्णय में लगेगा और भी सैकड़ों साल।।
 धन-जन-समय का होता दुरुपयोग, सुख-शान्ति समृद्धि का होता वियोग।
 जहाँ हो राग-द्वेष मोह व पक्षपात, भय व प्रलोभन न होता न्याय सत्य।
 इन्हीं दोषों से रहित होता है सत्य न्याय, 'कनकनन्दी' को प्रिय है जो सत्य न्याय।।

“सत्य एवं वचन-सत्य का विश्व रूप”

(चाल : कसमे-वादे प्यार....., आपकी नजरों ने.....)

हित-मित-प्रिय सत्य/(पथ्य)...कथन वचन/(वाचनिक) सत्य है।

सर्वोपकारी वचन हित...स्वल्प कथन मित है॥धु॥

मधुर साम्य सत्य कथन...आह्लादकारी प्रिय है।

क्रोध-मान-माया-लोभ रहित...मोह काम से रहित है॥ (1)

इसी से भिन्न वचन कथन/(कहना)...नहीं यथार्थ सत्य है।

देखा या सुना हुआ भी...पढ़ा या लिखा हुआ भी॥ (2)

सर्वोपकारी हित वचन...पापों से जो रहित हैं।

वही सर्वोच्च श्रेष्ठ वचन...हित-मित गौण हैं॥ (3)

दयावन्त गुरु जब...समझाते शिष्यों को।

मित व प्रिय रहित...सत्य होता सर्वोच्च॥ (4)

अन्यथा मित प्रयोग...करणीय विधेय है।

असंबद्ध प्रलाप भी...असत्य सम ही हेय है॥ (5)

चाटुकार ठग वेश्या...कथित प्रिय वचन।

नहीं होता सत्य वचन/(कथन)...हित सत्य विरहित॥ (6)

यदि सदा सम्भव हो...मौन गुप्ति धारणीय।

आत्मशांति कार्यसिद्धि...कर्मनाश करणीय॥ (7)

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे...सत्य तथ्य विलोपने।

बिना पूछे सत्य कहो...दोष नहीं है कथने॥ (8)

सत्य पालन के लिये ही...सत्यधर्म सत्यव्रत।

भाषासमिति भाषागुप्ति...हित-मित-प्रिय वचन॥ (9)

सत्य सदा ज्ञातव्य है...सत्य सदा धातव्य।

सत्य सदा कथनीय है...सत्य सदा पालनीय॥ (10)

सत्य ही परम प्राप्य...सत्य सदा पूजनीय।

सत्य शिव सुन्दर है...सच्चिदानन्द है सत्य॥ (11)

सत्यमय होता धर्म...सत्य परमेश्वर है।

सत्यमय होता ज्ञान...सत्यसम विज्ञान है॥ (12)

न्याय व राजनीति...संविधान व समाज।

व्यापार कला कविता...सत्य से ही प्रतिष्ठित॥ (13)

सत्य रहित सर्व ही...होते हैं अस्तित्वहीन।

अतएव कनकनन्दी...माने सत्य सर्वश्रेय॥ (14)

“वचन की विशेषताएँ”

(हित-मित-प्रिय कथन एवं दोषवादे च मौनम्)

(चाल : यमुना किनारे श्याम....., सायोनारा-सायोनारा.....)

हित-मित-प्रिय कथन करो...‘दोषवादे च मौनं’ धारण करो।

अधिक सुनो तथा कम भी बोलो...गुण ग्रहण का भाव भी धरो॥ (1)

अहितकर कथन कभी न करो...हितकर वचन सदा ही बोलो।

प्राणी वधकर या मिथ्यावचन...कभी न कहो है निन्दावचन॥ (2)

हित सहित तथा मित भी कहो...अनावश्यक अधिक कभी न कहो।

द्रव्य क्षेत्र काल (भाव) योग्य कम ही कहो...मनमाना अपलाप अभी न करो॥ (3)

हित-मित सहित प्रिय भी बोलो...अप्रिय कठोर बोली कभी न बोलो।

विद्वेष कलहकारी कभी न बोलो...विनम्र मधुर वचन बोलो॥ (4)

इसी हेतु भाव को पावन करो...राग-द्वेष-मोह से रहित करो।

माया-तृष्णा-ईर्ष्या से रहित करो...समता-शान्तिमय भावना करो॥ (5)

भाव से कथन प्रेरित होता...भावानुसार कथन होता।

भाव से भावित वचन होता...हित भाव से हित कथन होता॥ (6)

मनसंयम से मित कथन होता...समता से मनसंयम होता।

मौन भी इसी के कारक होता...वाद-विवाद तनाव जब न होता॥ (7)

मैत्री प्रमोद व समता भाव...करूणा सत्यग्राही विनम्र भाव।

प्रियवचन हेतु होते कारक...प्रियवचन होते मृदुपरक॥ (8)

इसी हेतु सत्य महाव्रत भी होता...श्रावक योग्य अणुव्रत भी होता।

सत्य धर्म पालन वचनगुप्ति...इसी हेतु है भाषा समिति॥ (9)

इसी से मानसिक शान्ति मिलती...अनेक समस्याएँ दूर भी होती।

कलह वाद-विवाद-द्वेष न होते...‘कनकनन्दी’ अतः कम बोलते॥ (10)

भिन्न-अभिन्न षड्कारक युक्त कविता विश्व का सार : सत्य समता शान्ति

(चाल : बंगला उड़िया संस्कृतनिष्ठ : भारत देश महान् : नृत्याभिनय सहगान)
सत्य समता शान्ति है...अखिल विश्वसार/(अखिल ब्रह्माण्डसार/विश्वाधार)
सत्य में सर्व द्रव्य समाहित...समता धर्म सार...SSS
शान्ति में समस्त सुख समाहित...जीवों का अन्तिम/(चरम) सार...SSS
निश्चय-व्यवहार सत्य होता है...सो विविध प्रकार...होता विविध प्रकार...SSS
निश्चय है षट् द्रव्यमय...लोक-अलोक प्रसार/(विस्तार)SSS
उसमें जीव द्रव्य ग्रहणीय...चैतन्य सुखागार/(सुख आधार)SSS
आत्म द्रव्य-स्व परम ग्रहणीय...शुद्ध चैतन्य सार...3...SSS
राग-द्वेष मोह काम विवर्जित...धर्म समतासार/(समताधार) SSS
समता से शान्ति उपजे...समस्त सुखागार/(सुखाधार) SSS
सत्य ही परमेश्वर होता (है)...सत्य ही सर्व आधार SSS
सत्य शून्य (रहित) अन्य सब मिथ्या...नहीं है उसमें सार...3...SSS
सत्य धर्म में स्थिर रहना...होता समताधार/(समताचार/समतागार)...SSS
समतामय ही शान्ति होती है...जो जीव मंगलकर/(आल्हादकर/शान्तिकर सुखकर
/शिवकर)
शान्ति प्राप्ति हर जीव चाहता...जीव का परम सार/(परमाधार/परमाचार)
'कनकनन्दी' इसी हेतु प्रयास...करता यत्नाचार/(समताचार/साम्याचार)

आध्यात्मिक सत्य : परम सत्य

(राग : सावन का महीना....., आत्म शक्ति से ओतप्रोत....., फूलों का तारों.....)
आध्यात्मिक सत्य है परम सत्यमय...अन्य सब होते हैं अपरममय।
आत्मिक सत्य है ज्ञानानन्दमय...समस्त सत्य में अग्रगण्यमय।।
जीव का शुद्ध रूप होता आध्यात्मिक...शुद्ध जीव होता अनन्त गुणात्मक।
अनन्त ज्ञान दर्शन सुखवीर्यमय...स्वयम्भू सनातन (सत) सच्चिदानन्दमय।। (1)
ब्राह्माण्ड के हर जीव होते हैं समान...वस्तु स्वरूप से सब शुद्धात्म सम।

कोई छोटा-बड़ा कोई न दीन व हीन...कर्म सम्बन्ध से भले यह आभा समान॥
 समाकार की वस्तु यथा दिखती असम...दूरी तारतम्य से वे दिखती असम।
 चौरासी लाख योनियों के अनन्त जीव...कर्म निमित्त से होते (हैं) असम जीव॥ (2)
 जीवों की असमता नहीं शुद्धस्वरूप...असमता होती है अशुद्धरूप।
 अशुद्धता होती है कर्म निमित्त...आध्यात्मिक होता है कर्म अनावृत्त।
 सार्वभौम समता ही आध्यात्मिक है...धनी गरीब भेदभाव से मुक्त है।
 मानवकृत समस्त सीमा से परे है...सामाजिक कानून व राष्ट्र परे है॥ (3)
 भौतिकता जहाँ न प्रवेश ही करती...कृत्रिमता जहाँ शून्य हो जाती।
 कषाय-क्लेश न प्रवेश ही करते...जन्म-जरा-मृत्यु रोग न रहते॥
 ब्रह्माण्डीय अन्य सत्य जो होते...मूर्तिक-अमूर्तिक अजीव जो होते।
 आध्यात्मिकता में शून्य-सा होते...इन्द्र जाल सम नास्ति असत्य होते॥ (4)
 इन्द्रियों से देखते सामान्य जीव...वे देखते हैं स्थूल भौतिक चीज।
 आध्यात्मिक सत्य है इससे परे...आत्मज्ञान से ही प्रगट सारे॥
 यह है परमज्ञान गूढ़ रहस्य...बन्धन मुक्ति के पूर्ण रहस्य।
 अज्ञानी मोही हेतु अज्ञात विषय...'कनकनन्दी' के ध्येय/(ध्यान) यह विषय॥ (5)

ईश्वर का वैश्विक स्वरूप

(विश्व के हर शुद्ध द्रव्य ईश्वर है) (सत्य ही ईश्वर)

(दार्शनिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, रहस्यवादी कविता)

(चाल : शायद मेरी शादी का....., आत्मशक्ति.....)

सत्य ही ईश्वर-ईश्वर भी सत्य, यह रहस्य है अति गूढ़ ज्ञान।

जो इस रहस्य का वेदन करेगा, ईश्वत्व पायेगा वह निदान॥ (1)

ईश्वत्व गुण से युक्त जो होता, वह ही ईश्वर सच्चा मान।

अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रभुत्व गुण युत, होने वाला है ईश्वर जान/(महान्)॥(2)

शुद्ध द्रव्य जो होते हैं विश्व में, वे सब ईश्वत्व गुण युक्त।

इसी हेतु वे अनादि अविनाशी, शाश्वतिक व शक्ति युक्त॥ (3)

अस्तित्वादि अनन्त गुण युत, होने से वे अनन्तवान्।

अस्तित्व गुण युक्त होने से, सत्य सनातन अनाशवान्॥ (4)

वस्तुत्व गुण से युक्त होने से, विभू-वैभवशाली-विशालमान्।

प्रभुत्व गुण से युक्त होने से, प्रभु-प्रभावशाली-प्रतापवान्॥ (5)

प्रमेय गुण से युक्त होने से, अन्तःप्रज्ञा से ज्ञेयवान्।

अगुरुलघु गुण युक्त होने से, अनन्त हानि-वृद्धि युक्तवान्॥ (6)

प्रदेशत्व गुण युक्त होने से, सप्रदेशी या आकारवान्।

सूक्ष्मत्व गुण से युक्त होने से, अल्पज्ञ से अदृश्यवान्॥ (7)

चेतन-अचेतन द्रव्य होने से, जीव-अजीव में व्याप्तवान्।

मूर्तिक-अमूर्तिक द्रव्य होने से, दृश्य-अदृश्य उभयवान्॥ (8)

अनन्त शक्ति अवस्था सहित, ईश्वर स्वरूप अचिन्त्यमान्।

स्व-स्व श्रद्धा युक्त जन, दर्शन करते स्व-शक्ति समान॥ (9)

जीव तो चेतन ईश्वरमय, बन्ध अवस्था में अशुद्धमय।

मुक्त अवस्था में शुद्ध ईश्वर, अन्य द्रव्य सर्व अचेतनमय॥ (10)

अगम्य-आगम-सर्वज्ञ गोचर, श्रद्धा-प्रज्ञा से दृष्टिमान्।

स्व ईश्वरत्व की प्राप्ति हेतु, 'कनकनन्दी' सदा प्रयत्नवान्॥ (11)

“सत्य परमेश्वर का विश्वरूप एवं स्व-परम सत्य”

(राग : कसमें वादे प्यार..., संसार है इक नदिया...)

सत्य ही है सनातन...सत्य सर्वस्य/(सबका) आधार।

सत्य शिव सुन्दर है... सर्व धर्म आधार॥धु.॥

सत्य का ही विश्वरूप...द्रव्य-गुण-पर्याय।

जातनाश ध्रौव्य भी है...लोकालोक सम्पूर्ण/(चराचर ब्रह्माण्ड)॥ (1)

जीव व पुद्गल धर्म...काल अधर्म आकाश।

चेतना चेतनमय...मूर्तिक तद् विपरीत॥ (2)

शुद्धाशुद्ध सर्व द्रव्य...बन्धन मुक्त द्वय द्रव्य।

दृश्यमान अदृश्य भी...अक्ष मन परे द्रव्य॥ (3)

दार्शनिक ज्ञाताज्ञात...वैज्ञानिक ज्ञाताज्ञात।

गणधर ज्ञाताज्ञात...सर्वज्ञाता द्वारा ज्ञात।। (4)

आत्मा-परमात्मा सर्व...ब्रह्माण्ड में स्थित सर्व।

परमाणु महास्कन्ध...सत्यमय तत्त्व सर्व।। (5)

सत्य ही सर्वोच्च सत्ता...सत्य ही परमेश्वर।

सत्य अतिरिक्त सर्व...अस्तित्व रहित शून्य।। (6)

सत्य ही परम ज्ञेय...निज सत्य उपादेय।

स्वात्म तत्त्व अतिरिक्त...अन्य सर्व त्यजनीय।। (7)

चिदानन्दमय आत्मा...स्वयं पूर्ण अन्य शून्य।

‘कनक’ परम ध्येय...ज्ञानानन्दमय स्वयम्।। (8)

वैश्विक-सार्वभौम-परम सत्य का लक्षण

द्रव्य का लक्षण

सद्द्रव्य लक्षणम् ॥29॥

The differentia of a substance or Reality is sat, isness or being.

द्रव्य का लक्षण सत् है।

यह विश्व शाश्वतिक है। क्योंकि इस विश्व में स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वतिक है। आधुनिक विश्व में भी सिद्ध हो गया है कि शक्ति या मात्रा कभी भी नष्ट नहीं होती है, परन्तु परिवर्तन होकर अन्य रूप हो जाती है। विज्ञान में कहा भी है-

Matter and energy neither be created nor destroyed. Each can be completely changed into another form or into one another.

विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त हैं कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती। केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।

दवियदि गच्छति ताडं ताडं सब्भाव पज्जयाइं जं।

दवियं तं भण्णंते अण्णणभूदं तु सत्तादो॥१॥ (पंचास्तिकाय)

What flows or maintains its identity through its several

qualities and modifications and what is not different from satta or substance, that is called Dravya by the all knowing.

उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है-प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं-जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

द्वयं सल्लम्बणयं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं।

गुणंपज्जयासयं वा जं तं भण्णांति सव्वण्हू।। (10)

Whatever has substantiality, has the dialectical triad of birth, death and permanence, and is the substratum of qualities and modes is Dravya. So say the all-knowing.

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण पर्यायों को आश्रय-आधार है, उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं।

प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्द देव ने कहा है-

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।

दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।। (96) (प्रवचनसार, पृ. 227)

अनेक प्रकार के गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सर्वकाल में द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है और वह (अस्तित्व)

(1) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से,

(2) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से,

(3) विभाव धर्म से विलक्षण होने से,

(4) भाव और भाववानता के भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेश-भेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त नहीं हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय एक-दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं-यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, (इसीलिये) उनका अस्तित्व एक ही है।

इह विविहलम्बणायं लम्बणमेगं सदित्ति सव्वगयं।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णात्तं।। (97)

धर्म का उपदेश करने वाले जिनवर वृषभ के द्वारा इस विश्व में विविध लक्षण

वाले द्रव्यों का वास्तव में 'सत्' ऐसा सर्वगत (सबमें व्यापने वाले) एक लक्षण कहा गया है। वास्तव में इस विश्व में विचित्रता को विस्तारित करते हुए (विविधता अनेकत्व को दिखाते हुए) अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त (भिन्न) रहकर वर्तमान और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित भी सर्व द्रव्यों की विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला और प्रत्येक द्रव्य की बँधी हुई सीमा को भेदता (तोड़ता) हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तव में एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का परामर्श (स्पर्श ग्रहण) करने वाला है। यदि वह ऐसा (सर्व पदार्थ परामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत् और कोई अवाच्य होना चाहिए, किन्तु वह तो निषिद्ध ही है और यह (सत् ऐसा कथन और ज्ञान के सर्व पदार्थ परामर्शी होने की बात) तो सिद्ध हो सकती है।

द्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा। (98)

द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध और स्वभाव से ही सत् है-ऐसा जिनेन्द्र देव ने यथार्थतः कहा है, इस प्रकार आगम से सिद्ध है।

वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्यों के स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य पर द्रव्य की अपेक्षा बिना अपने स्वभाव से ही सिद्ध है) उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता है, क्योंकि अनादिनिधन अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वह (द्रव्य) गुण-पर्यायात्मक अपने स्वभाव को ही जो कि मूल साधन है, धारण करके स्वयंमेव सिद्ध और सिद्धि वाला हुआ वर्तता है। जो द्रव्यों में उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कदाचित् अर्थात् कथंचित् (अनित्यता) के होने से वह पर्याय है। जैसे-द्वि-अणुक आदि तथा मनुष्य इत्यादि द्रव्य तो अनवधि (मर्यादारहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकाल-स्थायी) है, (इसीलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नहीं है।

ण हवदि जदि सद्व्वं असद्ध्व्वं हवदि तं कहं दव्वं।

हवदि गुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। (105)

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो निश्चित असत् होगा। जो असत् होगा वह द्रव्य कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) अथवा यदि असत् न हो तो वह

सत्ता से अन्य पृथक् होगा? सो भी कैसे हो सकता है? इसीलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता रूप है। यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होगी कि वह (1) असत् होगा अथवा (2) सत्ता से पृथक् होगा। उनमें से यदि असत् होगा तो ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वयं को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जाएगा और यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ इतने द्रव्य की सत्ता रखने मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (1) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ द्रव्य उदित होता है (अर्थात् सिद्ध होता है) और (2) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है। इसीलिये द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि भाव और भाववान (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है प्रदेश भेद न होते हुए संज्ञा-संख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है।

पविभक्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।

अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।। (106)

जिसमें प्रदेशों की अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो वह पृथक्त्व है। ऐसे श्री महावीर भगवान् की आज्ञा है। स्वरूप की एकता का न होना अन्यत्व है। ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं है तब किस तरह दोनों एक हो सकते हैं? जहाँ प्रदेशों की अपेक्षा एक-दूसरे से अत्यन्त पृथक्पना हो अर्थात् प्रदेश भिन्न-भिन्न हो जैसे दण्ड और दण्डी में भिन्नता है। इसको पृथक्त्व नाम का भेद कहते हैं। इस तरह पृथक्त्व या भिन्नपना शुद्ध आत्मद्रव्य की शुद्ध-सत्ता गुण के साथ नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही सत्ता के प्रदेश हैं। जैसे-शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुण का स्वरूप भेद है, परन्तु प्रदेश भेद नहीं है-ऐसे गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं होते। ऐसे श्री वीर नाम के अन्तिम तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा है। जहाँ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि से परस्पर स्वरूप की एकता नहीं है वहाँ अन्यत्व नाम का भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुण में है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्य में प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है वैसे संज्ञादि लक्षण रूप से भी अभेद हो ऐसा मानने से क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुण के

साथ प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदि के द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मयी नहीं है। तन्मय होना ही निश्चय से एकता का लक्षण है, किन्तु संज्ञादि रूप से एकता का अभाव है। सत्ता और द्रव्य में नानापना है। जैसे यहाँ मुक्तात्मा द्रव्य में प्रदेश के अभेद होने पर भी संज्ञादिरूप से नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्यों का अपने-अपने स्वरूप सत्ता गुण के साथ नानापना जानना चाहिए, ऐसा अर्थ है।

परम सत्य की परिणमनशीलता

सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥ (30)

Sat (is a) simultaneous possession (of) (उत्पाद) Coming into existence birth.

व्यय-Going out of existence, decay, and

ध्रौव्य-Continuous sameness of existence, permanence.

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है।

द्रव्य सत् स्वरूप है। सत् स्वरूप होने के कारण द्रव्य अनादि से है तथा अन्त तक रहेगा। तथापि यह सत् अपरिवर्तन नहीं है, बल्कि नित्य परिवर्तनशील है। नित्य परिवर्तनशील होते हुए भी इनका नाश नहीं होता है, इसीलिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का सदा सद्भाव होता है, इसीलिये ये सदा सत् स्वरूप ही रहते हैं।

उत्पाद-स्वजाति को न छोड़ते हुए भावान्तर (पर्यायान्तर) की प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति है वह उत्पाद है। जैसे-मृत्पिण्ड में घट पर्याय अर्थात् मिट्टी जैसे अपने स्वभाव को छोड़कर घट पर्याय से उत्पन्न होती है। वह घट उसका उत्पाद है। उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़कर पर्यायान्तर से परिणमन करते हैं।

व्यय-उसी प्रकार स्वजाति को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है वह 'व्यय' है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है।

ध्रौव्य-ध्रुव-स्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि परिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है। अर्थात् अनादि परिणामिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता है, द्रव्य ध्रुव रूप से रहता है अर्थात् स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भी भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है। जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदुपना का अन्वय रहता है।

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।

दव्वगुण पज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो।। (10) (प्रवचनसार)

लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है। द्रव्य, गुण व पर्याय में रहने वाला पदार्थ अस्तित्व से बना हुआ है।

उत्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्टुजादस्स।

पज्जाएण दु केणवि अट्टो खलु होदि सब्भूदो।। (18)

जैसे इस लोक में शुद्ध स्वर्ण के बाजूबन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूप से वर्तने वाली अँगूठी इत्यादि पर्याय से विनाश देखा जाता है और पीलापन आदि पर्याय से तो दोनों में (बाजूबन्द और अँगूठी में) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होने वाले (सुवर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है, इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के किसी पर्याय से उत्पाद, किसी (पर्याय) से विनाश और किसी पर्याय से ध्रौव्य होता है। ऐसा जानना चाहिए।

अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयध्रुवत्तसंबद्धं।

गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।। (95)

स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है 'द्रव्य' ऐसा कहते हैं।

यहाँ (इस विश्व में) वास्तव में जो स्वभाव भेद किये बिना उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य त्रय से और गुण, पर्याय द्वय से लक्षित होता है। इनमें से (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय में से) वास्तव में द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्य रूप अन्वय है, अस्तित्व को तो दो प्रकार का आगे कहेंगे-(1) स्वरूप अस्तित्व, (2) सादृश्य अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना-उत्पाद होना) है, व्यय प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य अवस्थिति (टिकना) है। गुण, विस्तार विशेष हैं। वे सामान्य-विशेषात्मक होने से दो प्रकार के हैं। इनमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व,

पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं। अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयत विशेष हैं। द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुण पर्यायों के साथ लक्ष्य लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नहीं है) स्वरूप से ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादादि रूप तथा गुण-पर्याय रूप परिणमन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नहीं है।)

विश्वगुरु सापेक्ष (अनेकान्त सिद्धान्त)

वस्तु स्वरूप की सिद्धि

अर्पितानर्पितसिद्धेः॥ (32)

The contradictory characteristics are established from different points of view.

मुख्यतया और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

द्रव्य में अनन्त गुण एवं पर्याय होती हैं। उन अनन्त गुणों एवं पर्यायों का कथन एक साथ नहीं हो सकता है, परन्तु उस द्रव्य को जानना अनिवार्य है, क्योंकि द्रव्य के यथार्थ ज्ञान बिना रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं हो सकती एवं रत्नत्रय के बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता, मोक्षमार्ग के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता और मोक्ष के बिना शाश्वतिक सुख नहीं मिल सकता है। इसीलिये यहाँ पर वस्तु स्वरूप के यथार्थ परिज्ञान की सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है।

धर्मान्तर को विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजन वश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उसे-अर्थरूप को अर्पित (मुख्य) कहते हैं।

अर्पित से विपरीत अनर्पित (गौण) है। प्रयोजक के प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की भी अविवक्षा हो जाती है। अतः उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है। वस्तु स्वरूप को जानने की जो गौण-मुख्य व्यवस्था है उसका व्यावहारिक सटीक वर्णन अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्धि ग्रन्थ में वर्णन किया है। यथा-

एकेनाकर्षती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मथाननेत्रमिव गोपी।। (225)

जिस प्रकार ग्वालिन दही को बिलोती हुई एक रस्सी को अपनी ओर खींचती है, दूसरी रस्सी को ढीली करती है। यद्यपि रस्सी एक होने पर भी रई में लिपटी हुई रहने के कारण दो भागों में बँट जाती है, उसे गोपिका दोनों हाथों में पकड़कर दही बिलोती है। जिस समय वह एक हाथ से एक ओर की रस्सी को अपनी ओर खींचती है, उसी समय दूसरे हाथ की रस्सी को ढीली कर देती है अर्थात् उसे आगे बढ़ा देती है, इस प्रकार परस्पर एक को खींचने से दूसरी को ढीली करने से वह मक्खन (लोणी) निकाल देती है। यदि ग्वालिनी एक साथ दोनों छोर को समान बल से खींचती एवं छोड़ती तो मथनी गतिशील नहीं बनती और मक्खन भी नहीं निकलता। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिए विवक्षित विषय को मुख्य कर दिया जाता है एवं अविवक्षित विषय को गौण किया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि विवक्षित गुण, धर्म वस्तु में है एवं अविवक्षित गुण, धर्म वस्तु से पृथक् होकर लोप हो गये हो। इसको ही जैन धर्म में नयवाद या स्याद्वाद कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग के महामेधावी वैज्ञानिक आइंस्टीन ने भी इस अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे भी मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कथन सापेक्ष दृष्टि से होना चाहिए। आइंस्टीन यहाँ तक मानते हैं कि जब तक जीव असर्वज्ञ रहेगा तब तक वह सम्पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता, केवल आंशिक सत्य को जान सकता है। इस आंशिक सत्य को आंशिक सत्य मानना सम्यक् है एवं आंशिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मान लेना मिथ्या है। यथा-

Einstain says, 'we can only know the relative truth the real truth is know only to the universal observer.

आइंस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार हम जब जो जानते हैं, वह सम्पूर्ण सत्य (Absolute truth) नहीं है, किन्तु सापेक्षिक सत्य है। (Relative truth) है, सम्पूर्ण सत्य सर्वदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जा सकता है।

सन्मति सूत्र में सिद्धसेन दिवाकर ने बताया कि अनेकान्त केवल वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली दार्शनिक प्रणाली नहीं है, परन्तु लोक व्यवहार को सुचारु रूप से व्यवस्थित करने के लिए लौकिक प्रणाली भी है।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सब्बहा ण णिव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।। (69)

जिस अनेकान्तवाद के बिना लोकव्यवहार भी नहीं चलता है उस जगत् का एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार हो।

जैसे रामचन्द्र एक मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वे लव, कुश की अपेक्षा पिता, दशरथ की अपेक्षा पुत्र, लक्ष्मण की अपेक्षा बड़े भाई, सीता की अपेक्षा पति, जनक की अपेक्षा दामाद (जमाई), सुग्रीव की अपेक्षा मित्र, रावण की अपेक्षा शत्रु, हनुमान की अपेक्षा प्रभु आदि अनेक धर्म से युक्त थे। राम एक होते हुए भी दशरथ की अपेक्षा पुत्र होते हुए भी लव-कुश की अपेक्षा पिता रूप विरोधी गुण से युक्त थे। तो भी अपेक्षा की दृष्टि से कोई प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य गुण अपने-अपने स्थान पर अविरोध एवं उपयुक्त है। विशेष ज्ञान के लिए मेरा 'अनेकान्त दर्शन' का अध्ययन करें।

100 संख्या 10 संख्या की अपेक्षा अधिक होते हुए भी 1000 संख्या की अपेक्षा कम है। जैसे-सेवफल नारियल से छोटा होते हुए भी आँवले की अपेक्षा बड़ा है। आँवला सेवफल से छोटा होने पर भी इलायची की अपेक्षा बड़ा है। घी निरोगी के लिए शक्तिदायक होते हुए भी ज्वर रोगी के लिए हानिकारक है। अग्नि चिमनी में रहते हुए उपकारक है, परन्तु पेट्रोल-टंकी में डालने पर अपकारक है। अग्नि एक होते हुए भी पाचकत्व, दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि गुणों के कारण अनेक भी हैं।

यह अनेकान्त मानसिक अहिंसा है, क्योंकि इसमें एकान्तवाद, हठाग्रह, पूर्वाग्रह नहीं है। अनेकान्त सिद्धान्त दूसरों के सत्यांश को भी स्वीकार करता है। अनेकान्त का सिद्धान्त है Right is Mine अर्थात् जो सत्य है वह मेरा है। उसका दावा यह नहीं कि Mine is Right अर्थात् मेरा जो है वह सत्य है। अनेकान्त वस्तु स्वरूप तथा भावात्मक अहिंसा है तथा स्याद्वाद कथन प्रणाली या वचनात्मक अहिंसा है। इस अनेकान्त का स्पष्टीकरण करने के लिए और कुछ सरल उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे-दो इंच लंबी वाली रेखा एक इंच वाली रेखा से लंबी है तथा तीन इंच लंबी रेखा से छोटी भी है।

सत्य-असत्य का स्वरूप एवं उसके फल

सत्य ही सार्वभौम, सर्वकालिक, त्रैकालिक अबाधित होने के कारण समस्त

विश्व से लेकर राष्ट्रीय, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, स्थिति, समृद्धि, शांति भी सत्य में निहित है। वस्तु स्वरूप, स्वशुद्ध आत्मस्वरूप सत्य होने के कारण सत्य में किसी भी प्रकार की विकृति, समस्या संभव नहीं है। निश्चयतः स्व-आत्मस्वरूप में स्थित होना परम सत्य है जिसे मोक्ष, निर्वाण, ईश्वरत्व कहते हैं। व्यवहारतः दूसरों की सत्ता, संपत्ति, विभूति, प्रसिद्धि, बुद्धि, कृति, जमीन आदि का अनैतिकतापूर्वक अपना नहीं मानना एवं नहीं बनाना, सत्य है। दूसरों की सत्ता-संपत्ति आदि को स्वीकार करना एवं मान्यता देना भी सत्य है। पूर्वोक्त दोषों से रहित होकर यथार्थ स्वरूप को स्वीकार करना सत्य है। इससे व्यक्तिगत कलह, तनाव से लेकर राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय कलह, तनाव, कानूनी लड़ाई, वैमनस्य, पक्षपात आदि समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं।

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ (30)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहे जाते हैं।

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ (36)

सत्य विषयक प्रतिष्ठा की प्राप्ति होने पर शुभाशुभ क्रिया से होने वाले धर्माधर्म एवं इस धर्माधर्म का फल स्वर्ग-नरकादि का आश्रय योगी बन जाता है।

जिस समय जीव असत्य, हिंसादि पाप करता है उस समय में उसका भाव दूषित होने के कारण जो कर्मास्रव होता है, वह कर्मास्रव पाप प्रकृति रूप में परिणमन कर लेता है। यह पाप ही उस पापी को अनेक प्रकार का दुःख देता है। पाप प्रवृत्ति के समय जो दूषित भाव होता है उससे मानसिक-तनाव, मानसिक उद्वेग, चिन्ता, भय आदि उत्पन्न होते हैं जिसके कारण उसे तत्काल भी मानसिक कष्ट एवं यातनाएँ मिलती हैं जिससे विभिन्न मानसिक रोग के साथ-साथ शारीरिक रोग होता है। जैसे-ब्लड प्रेशर बढ़ना, सिरदर्द, कैंसर, टी.बी., हृदयगति रुकना (हार्ट फेल), उन्माद, पागलपन आदि रोग होते हैं। इतना ही नहीं इस लोक में ही अपमान, प्रताड़ना, जेल जाना, सामाजिक प्रतिष्ठा का हास, अविश्वास, शत्रुता, कलह यहाँ तक कि प्राण दण्डादि कष्ट मिलते हैं। जो हिंसा करता है उसके फलस्वरूप इस जन्म में उसकी हिंसा हो सकती है, पर जन्म में अकाल-मरण, रोग आदि यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं।

झूठ बोलने से दूसरों का विश्वास झूठ बोलने वाले पर से उठ जाता है, जिह्वा छेद आदि दण्ड मिलता है। केवल एक बार झूठ बोलने पर राजा वसु का स्फटिकमय

सिंहासन फट गया। वह नीचे गिरा तथा पृथ्वी भी फट गई और वह पृथ्वी में समावेश होकर नरक में गया। मिथ्या बोलने वाला परभव में गूंगा (मूक) होता है, मुँह में घाव होता है और मुँह में से बदबू आती है।

असत्य बोलने वाले व्यक्ति की जीवन शक्ति नष्ट हो जाती है और वह सामान्य रोग का भी भोगी बन जाता है। जीवन शक्ति आधार 'तेज' है और वह तेज असत्य से नष्ट हो जाता है। असत्य बोलने वाला तेज हीन हो जाता है साथ ही असत्य बोलने से हृदय और मस्तिष्क के ज्ञान तंतुओं की हानि होती है। कुछ समय पश्चात् वह हृदय के रोग, पागलपन, पथरी, लकवा आदि रोगों से भी दुःखी हो जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। असत्य चिंतन, कथन, व्यवहार, लेखन आदि से मस्तिष्क, बुद्धि को अतिरिक्त शक्ति का उपयोग अथवा यथार्थ से कहे तो दुरुपयोग करना पड़ता है। संक्लेश, तनाव, भय, व्यग्रता, ग्लानि, अस्थिरता, मानसिक चंचलता, अशांति आदि झेलना पड़ता है।

कपट करने वाला व्यक्ति भी सूक्ष्म रूप से हिंसा ही करता है। परन्तु उसकी हिंसा करने की युक्ति मायामय-कपटमय होने से दिखायी नहीं देती। वह असाधारण विष-जैसी होती है। इससे ऐसे मनुष्य भी ऊपर वर्णित हिंसा, झूठ वाले व्यक्ति के, समान ही रोगों का शिकार बन जाते हैं। परन्तु उसे जो रोगों का दण्ड मिलता है, वह धीरे-धीरे असर करने वाले विष के समान ही होता है। छल-कपट-झूठा व्यवहार, भाव करने वाला व्यक्ति इस भय से चिंतित, व्यग्र, भयभीत रहता है। कहीं मेरे झूठ-छल-कपट प्रगट नहीं हो जावे-इससे अनेक दैहिक-मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं; जिसके कारण मुँह से अधिक दुर्गंधी आती है, भोजन सही रूप से पाचन नहीं होता है, कब्जयत (मलावरोध) रहता है, मल-मूत्र का विसर्जन देरी से होता है।

“मूक बनने का कर्म”-असत्य कथन

प्रजल्पन्ति वृथा येऽत्र विकथाः प्रत्यहं शठाः।

दोषन्निर्दोषिणां चार्हच्छतसद्गुरुधर्मिणाम्। (108)

पठन्ति पापशास्त्राणि स्वेच्छया च जिनागमम्।

विनयादि विना लोभख्यातिपूजादिवाञ्छया। (109)

धर्मसिद्धांत तत्त्वार्थानयुक्तयाऽन्यान् दिशन्ति च।

ते ज्ञानावृतिपाकेन मूकाः स्युः श्रुतवर्जिताः। (110)

जो शठ यहाँ पर प्रतिदिन वृथा ही विकथाओं को कहते रहते हैं, निर्दोष अर्हंत, श्रुत, सदगुरु और धार्मिकजनों के मनगढ़न्त दोषों को कहते हैं, पापशास्त्रों को अपनी इच्छा से पढ़ते हैं और जिनागम को विनय आदि के बिना लोभ, ख्याति-पूजा आदि की इच्छा से पढ़ते हैं, जो धर्म, सिद्धांत और तत्त्वार्थ का कुयक्तियों से अन्यथा रूप दूसरों को उपदेश देते हैं, वे जीव ज्ञानावरण कर्म के विपाक से श्रुतज्ञान से रहित मूक (गूँगे) होते हैं। (श्री वर्धमान चरित सप्तदस अधि.)

‘बधिर बनने के कर्म’

अश्रुतं परदोषादि श्रुतं वदन्ति चेषया।

ऋण्वन्ति परनिंदा ये विकथा दुःश्रुतिं जडाः। (104)

केवल श्रुत सङ्घानं दूषणं चात्र धर्मिणाम्।

भवेयुर्बधिरास्ते कुज्ञानावरणपाकतः। (105)

जो जड़ लोग नहीं सुने हुए भी पर दोषों को ईर्ष्या से कहते हैं, परनिंदा, विकथा और शत्रुओं को सुनते हैं केवली भगवान्, श्रुत, संघ और धर्मात्माओं को दूषण लगाते हैं, वे कुज्ञानावरण कर्म के विपाक से बधिर (बहिरे) होते हैं। (श्री वर्धमान चरित)

मुख रोगी होने का कर्म

हन्त से कथयिष्यामि श्रृणु देवि समाहिता।

कुवक्तारस्तु ये देवि जिह्वया कटुकं भृशम्॥

असत्यं परुषं घोरं गुरुन् प्रतिपरान् प्रति।

जिह्वाबाधां तदान्येषां कुर्वते कोपकारणात्॥

प्रायशोऽनृतभूतिष्ठा नयः कार्यवशेन वा।

तेषा जिह्वाप्रदेशस्था व्याधया सम्भवन्तिते॥ महा.भा.दा.ध.पृ. 5965

देवी! एकाग्रचित्त होकर सुनो, मैं प्रसन्नचित्त से तुम्हें सब कुछ बताता हूँ, जो कुवाक्य बोलने वाले मनुष्य अपनी जिह्वा से गुरुजनों या दूसरों के प्रति अत्यंत कड़वे, झूठे, रूखे तथा घोर वचन बोलते हैं, जो क्रोध के कारण दूसरों की जीभ काट लेते हैं अथवा जो कार्यवश प्रायः अधिकाधिक झूठ ही बोलते हैं उनकी जिह्वा प्रदेश में ही रोग होते हैं।

कर्मरोगी होने का कर्म

कुश्रोतारस्तु ये चार्थं परेषां कर्मनाशकाः।

कर्णं रोगान् बहुविधाल्लभन्ते ते पुनर्भवे।।

जो पर दोष या निन्दा युक्त कुवचन सुनते हैं तथा दूसरों के कानों को हानि पहुँचाते हैं वे दूसरे जन्म में कर्ण संबंधी नाना प्रकार के रोगों का कष्ट भोगते हैं।

दन्तरोगशिरोरोग कर्णरोगास्तथैवच।

अन्येमुखाश्रिताः दोषाः सर्वे चात्मकृतं फलम्।।

ऐसे ही लोगों को दन्तरोग, शिरोरोग, कर्णरोग तथा अन्य सभी मुख संबंधी दोष अपनी करनी के फलस्वरूप से प्राप्त होते हैं।

उन्मत्तादि होने का कर्म

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते मानुषेषु वै।

उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च पर्यटन्तो यतस्ततः।

केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि।।

उमा ने पूछा-भगवन् मनुष्यों में से कुछ लोग उन्मत्त और पिशाचों के समान इधर-उधर घूमते दिखाई देते हैं। इनकी ऐसी अवस्था में कौनसा कर्मफल है? यह मुझे बताइये।

ये पुरा मनुजा देविदर्पाहङ्कार संयुक्ताः।

बहुधा प्रलपन्त्येव हसन्ति च परान् भृशम्।।

मोहयन्ति परान् भोगेर्मदनैर्लोभकारणात्।

वृद्धान् गुरुश्च ये मूर्खा वृथैवापहसन्ति च।।

शौण्डा विदग्धाः शास्त्रेषु तथैवानृतवादिनः।

एवं युक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने।

उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च भवन्त्येव न संशयः।।

श्री महेश्वर ने कहा-देवी! जो मनुष्य पहले दर्प और अहंकार से युक्त हो नाना प्रकार की अंट-शंट बातें करते हैं, दूसरों की खूब हँसी उड़ाते हैं, लोभवश, उन्मत्त बना देने वाले भोगों द्वारा दूसरों को मोहित करते हैं, जो मूर्ख वृद्धों और गुरुजनों का व्यर्थ ही उपहास करते हैं तथा शास्त्र ज्ञान में चतुर एवं प्रवीण होने पर भी सदा झूठ बोलते हैं, शोभने! ऐसे आचरण वाले मनुष्य पुनर्जन्म लेने पर उन्मत्तों और पिशाचों के

समान भटकते फिरते हैं, इसमें संशय नहीं है।

मनोविज्ञान के अनुसार अनेक शारीरिक रोगों के मूल कारण मानसिक रोग ही हैं। यह आधुनिक मनोविज्ञान का सिद्धांत भारतीयों के लिए नवीन नहीं है। परन्तु यह सिद्धांत अत्यंत प्राचीन एवं अति परिचित भी है। आधुनिक चिकित्सा की विभिन्न शाखाओं एवं उपशाखाओं, भारतीय जनजीवन में धार्मिक शास्त्रों में, धार्मिक क्रियाकाण्डों में एवं आयुर्वेद में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई है। निम्न में एक आयुर्वेद का सूत्र प्रस्तुत कर रहा हूँ-

नित्यं हिताहार विहार समीक्ष्यकारी विषयेष्वसत्ता।

दाता समः परः क्षमावनाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।। अष्टांग 36

जो सतत् हितकर आहार, योग्य विहार करता है, विवेकपूर्वक परिणाम से विचार करके प्रत्येक कार्य करता है, पंचेन्द्रियजनित विषय में आसक्त नहीं होता है, यथायोग्य पात्र को यथायोग्य दान देता है, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र में समता भाव धारण करता है। सत्यग्राही, क्षमावान्, देवशास्त्र-गुरु, गुणीजन-वृद्धजनों की सेवा करता है, वह निरोग होता है।

जैन धर्मानुसार रोग होने का मूल कारण पूर्व उपार्जित पापकर्म का कारण छोटा आचार-विचार है। इसलिए शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए संपूर्ण पापकर्मों से निवृत्त होना आवश्यक है। इसलिए जैन आयुर्वेद कल्याण-कारक में जैनाचार्य उग्रादित्य ने संपूर्ण स्वास्थ्य के लिए पापकर्मों से निवृत्त होने पर जोर दिया है। यथा-

कर्मों के उदय के लिए निमित्त कारण

जीवस्वकर्मार्जितपुण्यपाप। फलं प्रयत्नेन विनापिभुंक्ते।

दोषप्रकोपोपशमौ च ताभ्या। मुदाहृतौ हेतु निबन्धनौ तौ।। (10) क.का.

यह जीव अपने कर्मोपार्जित पुण्य-पाप फल को बिना प्रयत्न के ही अवश्य अनुभव करता है। वात-पित्तादि दोषों के प्रकोप और उपशम पापकर्म व पुण्यकर्म के फल को देने में निमित्त कारण है।

रागोत्पत्ति के हेतु

सहेतुकास्सर्व विकार जाता। स्तेषां विवेको गुणमुख्यभेदात्।

हेतुः पुनः पूर्वकृतं स्वकर्म। ततः परे तस्य विशेषणानि।। (11)

शरीर में सर्व विकार (रोग) सहेतुक ही होते हैं। परन्तु उन हेतुओं को जानने के लिए गौण और मुख्य विवक्षा से विवेक से काम लेने की जरूरत है। रागादि विकारों के मुख्य हेतु अपने पूर्वकृत कर्म है। बल्कि वे सब उसके विशेषण है अर्थात् निमित्त कारण है, गौण हैं।

ध्वनि प्रदूषण

ध्वनि प्रदूषण क्या है? तीव्र ध्वनि यदि सुनने को बाध्य किया जाता है तो निश्चित ही आपकी मनःस्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा और स्वाभाविक है कि कोई भी शोरनुमा ध्वनि आपसे सहन नहीं होगी। अतः अब प्रश्न यह उभरकर आता है कि किस ध्वनि को आप शोर कहेंगे। गलत जगह, गलत समय और गलत ध्वनि ही वास्तव में शोर का रूप है और यह शोर ही ध्वनि प्रदूषण का मूल कारण है। यही शोर हमारे कानों के पर्दों तथा मस्तिष्क पर अत्यधिक हानिकारक प्रभाव डालता है। आज शोर की तीव्रता में वृद्धि हो रही है। भारतवर्ष में 1968 में शोर का स्तर 1938 स्तर से 32 गुना अधिक हो गया था। आज इसका स्तर कितने गुना बढ़ चुका है। इसकी कल्पना की जा सकती है। आज शोर का स्तर 1938 के स्तर से 100 गुना से अधिक होने से एक गंभीर समस्या बन गई है तथा चिंता का विषय बन गया है। शोर द्वारा होने वाली ध्वनि का वेग, उसकी गति तथा कम्पन्न द्वारा मापा जाता है। अलेक्जेंडर ग्राह्व बैल, जिसने टेलीफोन का आविष्कार किया था ध्वनि मापन के लिए एक स्केल दी थी जिसकी इकाई डी.बी. (डेसीबिल) कहलाती है। प्रायः एक व्यक्ति 70-80 डी.बी. तक ही ध्वनि सहन कर सकता है। इस तरह 80 डी.बी. तक सामान्य और औसत व्यक्ति की ध्वनि श्रवण क्षमता स्वीकार कर ली गई है। लेकिन विश्व स्वास्थ्य संगठन ने दिन में 45 डेसीबल तक की ध्वनि को कर्णप्रिय तथा मानवीय स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक सुरक्षित बताया है।

ध्वनि प्रदूषण के मुख्य कारक-प्रायः इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है-

(1) प्राकृतिक (Natural), (2) मनुष्य द्वारा उत्पादित (Man Generated)

(1) प्राकृतिक-इसके अंतर्गत प्रकोप जैसे आँधी, तूफान, भूकंप, तेज वर्षा तथा बिजली की कड़कड़ाहट आदि आते हैं।

(2) मनुष्य द्वारा उत्पादित-(अ) परिवहन के साधनों द्वारा जैसे-ट्रक, बसें, कार, स्कूटर, हवाई जहाज तथा रेलगाड़ी द्वारा, (ब) मनोरंजन के साधनों-

टी.वी., रेडियो, डिस्को संगीत आदि से, (स) पूजा स्थल से-हारमोनियम, ढोलक, लाउडस्पीकर आदि द्वारा, (द) सैनिक अभ्यास द्वारा-टैंक, मशीनगनों तथा हथगोले प्रयोग आदि से, (य) कारखाने और उद्योगों द्वारा-मशीनें, साइरन, जेनरेटर आदि से।

अन्य साधनों से मकानों के निर्माण, आटे की चक्की, सिनेमागृह, नेताओं के भाषणों के आयोजन से घरेलू उपकरण द्वारा भी ध्वनि प्रदूषण होता है। ध्वनि प्रदूषण का प्रभाव (Effect of Noise Pollution) (1) तेज आवाज से कान के पर्दे फट जाने का डर रहता है। इसके कारण व्यक्ति को कम सुनाई देता है, कानों में सीटी का आवाजों का आना तथा कान का सुन्न हो जाना प्रायः हो जाता है। 100 डी.बी. ध्वनि के वातावरण में जीने को बाध्य व्यक्ति पूरी तरह से बहरेपन का शिकार हो जाता है। 160 डी.बी. शोर से कान का पर्दा फट जाता है और व्यक्ति सदैव के लिए बहरा हो जाता है।

(2) ध्वनि प्रदूषण से उत्पन्न अन्य विकार हैं-सिरदर्द, उच्च रक्तचाप, अनिद्रा, हृदयगति का बढ़ना, श्वसन तीव्र होना, जी मचलाना, थकान अनुभव करना तथा स्वभाव से चिड़चिड़ापन होना। अत्यधिक शोर के कारण व्यक्ति शारीरिक रूप से उद्देलित हो जाता है और अंत में आक्रमक हो जाता है।

(3) व्यक्ति को ध्वनि प्रदूषण के समय अनुकूलन प्रक्रिया में परेशानी आती है। उसे इस समय अनुकूलन प्रक्रिया में अधिक मानसिक ऊर्जा (Psychic Energy) खर्च करनी पड़ती है जिसके कारण वह अपनी कुंठाओं (Frustration) का सामना करने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार के परीक्षण ग्लास महोदय ने 1977 में किये हैं।

(4) ग्लास एवं सिंगर (Glass and Singer) ने अपने अध्ययनों से स्पष्ट किया कि अत्यधिक शोर निष्पादन में अधिक बाधा डालता है और ध्यान विकेन्द्रीकरण करता है। इसके विपरीत संगीत बजने से कर्मचारी अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहित होते हैं, समय तेजी से गुजरता, एकाकीपन दूर होता है और यह कार्य को सरल बनाता है।

(5) तेज शोर से वार्तालाप करने से स्वर यंत्र में सूजन पड़ जाती है तथा गले में खराश हो जाती है, पेट से लेकर गला, मुँह में तनाव-खिंचाव के कारण दर्द होता है गला-मुँह सुखते हैं, प्यास अधिक लगती, मन-चंचल होता है, दूसरों को बाधा

पहुँचती है, शालीनता, गंभीरता, मर्यादा, अनुशासन आदि भंग होते हैं।

(6) ध्वनि प्रदूषण से आँखों की पुतली का आकार छोटा हो जाता है तथा रंग पहचानने की क्षमता में कमी आ जाती है तथा रात्रि में दृष्टि क्षमता कम हो जाती है। इसके अलावा शरीर की बाहरी त्वचा से रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होने लगती है।

Master Theory

Unified theory of universe (Theory of everything)

“अनेकान्त वन्दन (स्याद्वाद का स्वरूप)”

(Theory of relativity-सापेक्ष सिद्धान्त, एकीकृत सिद्धान्त)

(तर्ज : बिन गुरु ज्ञान नहीं....., चालीसा..., मन तड़पत हरि दर्शन को.....)

दोहा- विश्व गुरु अनेकान्त से, हो व्यापक विचार,
लोकालोक में व्याप्त है, जिसकी महिमा अपार।

चौपाई- एकान्तवादी तुम जगो, करलो अपना सुधार,
सापेक्षवाद सतवाद से, हो जाओ भव पार।।

हे अनेकान्त सत्य स्वरूप, हे सनातन विश्व स्वरूप,
जीव-अजीव में व्याप्त स्वरूप, समस्त नय प्रमाण स्वरूप।
लोकालोक में व्याप्त रूप, मूर्तिक अमूर्तिक तेरा स्वरूप।
एकानेक व अनन्त रूप, सर्वव्यापी है शिव स्वरूप।।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप, खण्ड विखण्डित एक स्वरूप,
अस्ति-नास्ति अव्यक्त रूप, सप्तभंग मय तेरा रूप।
सर्वत्र व्याप्त है तेरा रूप, सार्वभौम है नित्य स्वरूप,
बन्ध मोक्ष भी तेरा रूप, सापेक्षवाद है तेरा स्वरूप।।

निरापेक्ष है मिथ्या रूप, सापेक्ष दृष्टि सत्य स्वरूप,
तेरी कृपा से होता सम्यक्, मिथ्यात्व है तुमसे पृथक्।
तेरे वियोगे अनन्त भव, जन्म-मरणे दुःख ही भोग,
कुवाद समस्त नाशन कर्ता, समाधान के तुम हो भर्ता।।

तुम बिन है न लौकिकाचार, तुम बिन है न सदाचार,
तुम बिन है सब तर्क-कुतर्क, तुम बिन है स्वर्ग भी नर्क।

तुम बिन है न न्याय प्रणाली, तुम बिन है न कार्य प्रणाली,
तुम बिन है न सम्यक् मार्ग, तुम बिन है न मोक्षमार्ग।।

तुम तो आदि अन्त रहित, सर्व सत्य में सर्वत्र व्याप्त,
चेतन में तुम चेतन रूप, अचेतन में उसी ही रूप।
सर्वज्ञ द्वारा तुम सुज्ञात, सुदृष्टि द्वारा तुम पूजित,
तुम्हें न माने मिथ्यादृष्टि, तुम बिन चलती है सृष्टि।।

सूर्य न देखे जन्मान्ध व्यक्ति, अज्ञानी न जाने तुम्हारी शक्ति,
'कनकनन्दी' के साध्य-साधन, तुमसे ही मैं होता हूँ धन्य।
त्रैलोक्यनाथ के शासन तन्त्र, तुम्हें नमूँ मैं हे विश्वतन्त्र।।

हितोपदेशी तथा श्रोता

(ज्ञान प्राप्ति के विभिन्न उपाय-हितोपदेश)

महान् ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से युक्त शिष्य एवं गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है। क्योंकि शिष्य एवं गुरु के अंतरंग तथा बहिरंग संपूर्ण कारणों के सम्यक् समवाय से ही ऐसा महान् बोधि लाभ संभव है। यथा-

सर्व दुःख नाशकारी शिक्षा

दुःखद्विभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।

दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव।। (2) आत्मानु.

हे आत्मन! तू दुःख से अत्यंत डरता है और सुख की इच्छा करता है, इसलिए मैं भी तेरे लिए अभीष्ट उसी तत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ जो कि तेरे दुःख को नष्ट करके सुख को करने वाला है।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किञ्चित्।

त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात्।। (3)

यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सम्यग्दर्शनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोड़ा सा कडुआ (दुःखदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकर) ही होगा। इसलिए हे आत्मन! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधि से नहीं डरता है उसी

प्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

जिस प्रकार ज्वर आदि से पीड़ित बुद्धिमान मनुष्य उसको नष्ट करने के लिए चिरायता आदि कडुवी भी औषधि को प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार के दुःख से पीड़ित भव्य जीवों को इस उपदेश को सुनकर प्रसन्नता पूर्वक तदनुसार आचरण करना चाहिए। कारण यह कि यद्यपि आचरण के समय वह कुछ कष्टकारक अवश्य दिखेगा तो भी उसका फल मधुर (मोक्ष प्राप्ति) होगा।

हितोपदेशी दुर्लभ

जना धनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वुयोत्थिताः।

दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः॥ (4)

जिसका उत्थान (उत्पत्ति एवं प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयालु और जल से पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों दुर्लभ हैं।

विशेषार्थ—जो मेघ गजरते तो हैं, किन्तु जलहीन होने से बरसते नहीं हैं, वे सरलता से पाये जाते हैं। परन्तु जो जल से परिपूर्ण होकर वर्षा करने के उन्मुख हैं, वे दुर्लभ ही होते हैं। ठीक इसी प्रकार से जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते हैं वे तो अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं, किन्तु जो स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर दयार्द्रचित्त होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियों को उससे उद्धार करने वाले सद्गुण उपदेश करते हैं वे कठिनता से ही प्राप्त होते हैं। ऐसे ही उपदेशक का प्रयत्न सफल होता है।

हितोपदेशी का स्वरूप

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः।

प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः॥

प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया।

ब्रुयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥ (5)

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्राज्ञा से सहित है, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुके हैं, लोक व्यवहार से परिचित हैं, अर्थ-लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित है, नवीन-नवीन कल्पना की शक्ति रूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यता रूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शांत है, प्रश्न करने से पूर्व में ही

वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की संभावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाला है अर्थात् न तो घबराता है और न उत्तेजित ही होता है, श्रोताओं पर प्रभाव डालने वाला है, उनके (श्रोताओं के) मन को आकर्षित करने वाला अथवा उनके मनोगत भाव को जानने वाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थानभूत है; ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकार होता है।

सच्चे गुरु

श्रुतमविकलं शुद्धाः वृत्तिः परप्रतिबोधने

परिणतिरूरुद्योगोमार्ग प्रवर्तनसद्बिधो।

बुधनुतिरनुत्सेकोलोकज्ञतामृदुताऽस्पृहा

यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्येचसोऽस्तुगुरुः सताम्॥

जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धांत का जानकर है, जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व कार्य की प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्षमार्ग के प्रचार रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं, तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कारादि करता है, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोकमर्यादा का जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोक संबंधी इच्छाओं से रहित है, तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान हैं; वही हेयोपादेय-विवेक ज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है।

सच्चे शिष्य

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतवान्।

सौख्यैषीश्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।

धर्म शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,

गृहन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥ (7)

जो भव्य है; मेरे लिए हितकारक मार्ग कौनसा है, इसका विचार करने वाला है; दुःख से अत्यंत डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषी है, श्रवण आदि रूप बुद्धि वैभव से संपन्न है तथा उपदेश को सुखकारक और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध है ऐसे सुखकारक दयामय धर्म को ग्रहण करने

वाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकारी माना गया है।

यहाँ धर्मोपदेश के सुनने का अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोता के गुणों का विचार करते हुए सबसे पहले यह बतलाया है कि भव्य होना चाहिए। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को प्राप्त करके भविष्य में अनंत चतुष्टय स्वरूप से परिणत होने वाला है वह भव्य कहलाता है। यदि श्रोता इस प्रकार का भव्य नहीं है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। कारण कि जिस प्रकार पानी के सींचने से ही मिट्टी गीलेपन को प्राप्त हो सकती है उसी प्रकार पत्थर नहीं हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घट के ऊपर जल बिन्दुओं के डालने पर वह उन्हें आत्मसात् कर लेता है उस प्रकार घी आदि से चिक्कणता को प्राप्त हुआ घट उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता है-वे इधर-उधर बिखरकर नीचे गिर जाती हैं। ठीक यही स्थिति उस श्रोता की भी है-जिस श्रोता का हृदय सरल है वह सदुपदेश को ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करने में प्रयत्नशील होता है, किन्तु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपयोग का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव सबसे पहले उसका भव्य होना आवश्यक है। दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहित का विवेक होना चाहिए। कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस प्रकार से हो सकता है, यह विचार यदि श्रोता के रहता है तब तो वह सदुपदेश को सुनकर तदनुसार कल्याण मार्ग में चलने के लिए उद्यत हो सकता है। परन्तु यदि उसे आत्महित की चिंता अथवा हित और अहित का विवेक नहीं है तो मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। किन्तु जब और जिस प्रकार का प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार वह अस्थिर से आचरण करता रहेगा। इस प्रकार से वह दुःखी ही बना रहेगा। इसलिए उसमें आत्महित का विचार और उसके परीक्षण की योग्यता अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार उसे दुःख का भय और सुख की अभिलाषा होना चाहिए, अन्यथा यदि उसे दुःख से किसी प्रकार का भय नहीं है या सुख की अभिलाषा नहीं है तो फिर भला वह दुःख को दूर करने वाले सुख के मार्ग में प्रवृत्त ही क्यों होगा? नहीं होगा। अतएव उसे दुःख से भयभीत और सुखाभिलाषी भी अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसमें निम्न प्रकार बुद्धि का वैभाव या श्रोता के आठ गुण भी होना चाहिए-

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।

स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः॥

सबसे पहले उसे उपदेश सुनने की उत्कंठा (शुश्रुषा) होनी चाहिए, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किन्तु वह उसे रूचिपूर्वक सुनेगा भी नहीं। अथवा शुश्रुषा से अभिप्राय गुरु की सेवा का भी हो सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुए अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थ को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण करना (रखना) उसके योग्यायोग्य का युक्तिपूर्वक विचार करना, इस विचार से जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थ को छोड़ना, तथा योग्य तत्व के विषय में दृढ़ता से रहना, ये श्रोता के आठ गुण हैं जो उसमें होने चाहिए। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त श्रोता में हठाग्रह का अभाव भी होना चाहिए, क्योंकि वह यदि हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तु का स्वरूप का विचार नहीं कर सकेगा। कहा भी है-

आग्रहीवत् निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।।

अर्थात् दुराग्रही मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहेगा। किन्तु जो आग्रह से रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तदनुसार वस्तु-स्वरूप को निश्चय करता है। इस प्रकार जिस श्रोता में ये गुण विद्यमान होंगे वह सरूचिपूर्वक धर्मोपदेश को सुन करके तदनुसार आत्महित के मार्ग में अवश्य प्रवृत्त होगा।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।

रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः।। 142 (आत्मानुशासन पृ. 134)

जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती हैं उसी प्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

श्री गुरु दोष छुड़ाने और गुण-ग्रहण कराने के लिए कदाचित् असुहावने कठोर वचन भी कहे तो भी भव्य जीव का मन उन वचनों को सुनकर प्रसन्न ही होता है, उसे चिन्ता या खेद नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य की किरणें यद्यपि औरों को आताप उत्पन्न करने वाली उग्र और कठोर होती हैं, तथापि वे कमल की कली को प्रफुल्लित ही करती हैं, उसी प्रकार गुरु के वचन पापियों को स्वयं हीन होने के कारण यद्यपि दुःख

उत्पन्न करने वाले कठोर होते हैं, तथापि वे धर्मात्मा के मन को आनंद ही उत्पन्न करते हैं। धम्मात्मा जीवों को श्री गुरु जब दबाकर (अत्यंत कठोरता के साथ) उपदेश देते हैं, तब वे अपने को धन्य मानते हैं।

प्रश्न—कठोर उपदेश से पापियों को तो दुःख ही होगा?

उत्तर—श्रीगुरु जिसे पापी या तीव्र कषायी समझते हैं, उसे कठोर उपदेश नहीं देते, वहाँ माध्यस्थ भाव रखते हैं।

यहाँ तो आचार्य शिष्य को शिक्षा देते हैं कि श्रीगुरु तेरा भला करने के लिए कठोर वचन कहते हैं, उन्हें तुझसे ईर्ष्या का प्रयोजन नहीं है, अतः उन्हें इष्ट जानकर उनका आदर ही करना चाहिए।

धर्मात्माओं की दुर्लभता

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाःपुरा।

दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं न दुर्लभाः। (143)

पूर्व काल में दोनों लोकों में हितकारी धर्म को कहने और सुनने वाले सुलभ थे, किन्तु करने वाले दुर्लभ थे, किन्तु इस काल में तो कहने और सुनने वाले भी दुर्लभ हो गये हैं।

इस लोक और परलोक में जीव का हित करने वाले धर्म को कहने वाले और सुनने वाले पहले चतुर्थ काल में बहुत होते थे, परन्तु अंगीकार करने वाले तो उस समय भी थोड़े ही थे, क्योंकि संसार में धर्मात्मा थोड़े ही होते हैं।

लेकिन अब यह पंचम काल ऐसा निकृष्ट है कि इसमें सच्चे धर्म को कहने वाले तो अपने लोभ और मान के अभिलाषी हो गये हैं, इसलिए वे यथार्थ नहीं कहते तथा सुनने वाले जड़ और वक्र हो गये हैं, इसलिए वे परीक्षा-रहित, हठग्राही होने से यथार्थ बात नहीं सुनते। जब कहना-सुनना ही दुर्लभ हो गया तो अंगीकार करने की बात ही क्या करना?

इस प्रकार इस काल में धर्म दुर्लभ हो गया है, सो ठीक ही है, क्योंकि यह पंचम काल ऐसा निकृष्ट है कि जिसमें सभी उत्तम वस्तुएँ अल्प होती जाती हैं और धर्म भी तो उत्तम है, अतः उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है? इसलिए इस निकृष्ट काल में जिन्हें धर्म की प्राप्ति होती है, वे ही धन्य हैं।

तीन बंदर की मूर्तियाँ ही नहीं; चार चाहिए

तीन बंदर की मूर्तियाँ-(1) बुरा नहीं देखना, (2) बुरा नहीं सुनना, (3) बुरा नहीं बोलना के प्रतीक स्वरूप क्रमशः हाथों से दोनों आँख दोनों कान एवं मुख को बंद करती हुई बंदर की 3 मूर्तियाँ पर्याप्त नहीं है। इसके साथ-साथ बुरा नहीं सोचने के भाव के प्रतीक स्वरूप छाती में हाथ रखती हुई चौथी बंदर की मूर्ति की भी नितांत अनिवार्यता है। क्योंकि यदि कोई अंधा-बधिर-मुक भी है परन्तु बुरा सोच रहा है तो वह बुरा ही है परन्तु वीतराग सर्वज्ञ भगवान् सब कुछ देखने-सुनने पर भी तथा 718 भाषा में बोलने पर भी बुरा नहीं है। अच्छा-बुरा का उद्गम स्रोत विचार ही है। विचार के अनुसार ही उच्चारण-श्रवण-दर्शन-आचरण होता है। अच्छा विचार (सुधार करने के लिए, हित करने के लिए) से यदि दूसरों के बुरे गुणों के बारे में कोई सोच-विचार कर रहा है, बुरे वचनों को सुन रहा है, बुरे कामों को देख रहा है और हितकर कटु (बुरा) बोल रहा है तो भी वह बुरा नहीं है। अपितु ऐसे परोपकारी, हितोपदेशी, सज्जन, गुणीजन, गुरुजन उनसे श्रेष्ठ हैं जो दूसरों के हित के लिए दिल-दिमाग-आँख-कान-मुँह बंद रखते हैं। दुर्जन, पर अहितकारी लोगों के लिए यह 3, तीन मूर्तियाँ सही है। क्योंकि वे गंदगी की मक्खी, मच्छर, खटमल के जैसे केवल दूसरों को क्षति पहुँचाने के लिए ही दूसरों के बुरा देखते हैं, बुरा सुनते हैं, बुरा बोलते हैं।

न विना परिवादेन् रमते दुर्जनो जनः।

काकः सर्वरसान् भुक्त्वा विना मेध्यं न तृप्यति।। (382) स.कौ.

दुष्ट मनुष्य को निन्दा किये बिना चैन नहीं पड़ती क्योंकि कौआ समस्त रसों को छोड़कर अशुचि पदार्थ के बिना संतुष्ट नहीं होता।

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।

आत्मनो विल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।। (383) स.कौ.

दुष्ट पुरुष, दूसरों के सरसों बराबर दोषों को देखता है और अपने बेल के बराबर दोषों को देखता हुआ भी नहीं देखता है।

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात्क्रूरतरः खलः।

मन्त्रेण शाम्यते सर्पः खलः केनोपशाभ्यते।। (384)

सर्प क्रूर है और दुर्जन भी क्रूर है परन्तु दुर्जन, सर्प की अपेक्षा अधिक क्रूर है क्योंकि सर्प तो मंत्र से शांत हो जाता है परन्तु दुर्जन किससे शांत होता है? अर्थात्

किसी से नहीं।

अतिमालिने कर्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धीः।

तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः॥ (504)

अत्यंत मलिन कार्य के करने में दुर्जनों की बुद्धि अत्यंत निपुण होती है क्योंकि उल्लुओं की दृष्टि अंधकार में रूप को ग्रहण करती है।

इन सबसे भी श्रेष्ठ है समता रस में लीन निर्विकार ज्ञाता-दृष्टा-टंकोत्कीर्ण-शुद्धात्मा।

हित-मित-प्रिय या हित-अमित-अप्रिय

सामान्य जन के लिए सामान्य परिस्थिति में तो हित-मित-प्रिय वचन ही श्रेष्ठ है परन्तु विशेष जन (हिताकांक्षी, सहृदयी, गुरु, माता-पिता, अभिभावना-डॉक्टर-वैद्य, न्यायाधीश आदि) के लिए विशेष परिस्थिति में विशेष, विशेष व्यक्तियों के लिए हित-मित-प्रिय से भी हित-अमित-अप्रिय वचन श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ है, कथनीय है। जैसा कि-

गुरु कुम्हार कुंभ शिष्य है गढ-गढ काढे खोट।

अंदर हाथ पसारकर, ऊपर मारे चोट।

परोपकारायददाति गौः पयः, परोपकारायफलन्ति वृक्षाः।

परोपकाराय वहन्ति नद्य, परोपकाराय सत्तां प्रवृत्तिः।

जैसा कि रोग को दूर करने वाली कड़वी औषधि रोग को वृद्धि करने वाला मिष्टान्न से भी श्रेष्ठ है उसी प्रकार हिताकांक्षी-हितोपदेशी सच्चे-अच्छे गुरु के कटु वचन भी उन ठग, वैश्या, चाटुकार के मधुर-प्रिय वचन से भी अधिक श्रेष्ठ है, सत्य है, ग्राह्य है। गुरु भी यदि शिष्य के हित के लिए कठोर वचन नहीं बोलते हैं तो कुगुरु है। यथा-

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,

सार्धं तैः सहसा भ्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।

तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,

ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः। (141)

कोई व्यक्ति गुरु-प्रवृत्ति कायम रखने के अभिप्राय से शिष्य में विद्यमान दोषों को छिपाता है और यदि उन दोषों के रहते हुए ही शिष्य का मरण हो जाए गुरु क्या

करेगा? इसलिए ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है तथा जो मेरे दोषों को देखने में प्रवीण अर्थात् निरंतर मेरे दोषों को अच्छी तरह देखने वाला और मेरे थोड़े दोषों को भी बढ़ा-चढ़ाकर कहने वाला दुर्जन भी मेरा सच्चा गुरु है।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।

खेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः। (142) (आ. शासन)

जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती हैं उसी प्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,

भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीयते।

कृतं किमपि धार्ष्ट्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,

न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता। (144) आत्मानुशासन

गुण-दोष के विवेक से युक्त सत्पुरुषों द्वारा अपने दोष अधिकता से प्रगट करना भी बुद्धिमानी जीवों को भले उपदेश के समान अत्यंत प्रीति उत्पन्न करने वाला होता है और धर्मतीर्थ का सेवन न करने वाले (दुष्ट पुरुषों) द्वारा धीठता से किया गया गुणानुवाद भी उन बुद्धिमान विवेकी जीवों को संतोष उत्पन्न नहीं करता। परन्तु तुझे (शंकाकार को) अन्यथा भासित होता है; तेरी इस अज्ञानता से हमें खेद होता है।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।

यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ (145)

अन्य कारणों की अपेक्षा छोड़कर जो जीव गुणों और दोषों के कारण ही ग्रहण और त्याग करते हैं, वे ही ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।

विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ (146) आत्मा. पृ. 138

हे जीव! तू दुर्बुद्धि होता हुआ हित को छोड़कर अहित में स्थित रहकर अपने को अत्यंत दुःखी करता है, इसलिए अब इसका उल्टा कर! अर्थात् सुबुद्धि होता हुआ अहित को छोड़कर हित में स्थित रहते हुए उसी की वृद्धि कर! इससे तू अपने स्वाभाविक सुख को प्राप्त करेगा।

प्राचीन महान् हितोपदेशी आचार्यों ने भी कभी-कभी शिष्यों को सुधारने के

लिए कठोर वचनों का प्रयोग किया है। इसके साथ-साथ ही कोई विषय यदि शिष्य को समझ में नहीं आता है तो अनेक बार (अमित) समझाया है। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथ तक में भी अनेक उदाहरणों के माध्यम से अनेक गाथाओं में एक ही विषय को समझाया गया है। किन्तु सामान्य व्यक्ति अहितकर वचन, विकथा आदि वाचालता से करते हैं तथा आर्तध्यान, रौद्रध्यान से युक्त होकर अप्रिय बोलते हैं इसलिए उनको इस दुष्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लिए तो हित के साथ-साथ मित एवं प्रिय ही बोलना चाहिए।

कथंचित् मौन से भी श्रेष्ठ सत्य कथन

समतापूर्वक, मन-वचन-काय से मौनपूर्वक ध्यान-अध्ययन-साधन-लेखन आदि करना श्रेष्ठ है तथापि विशेष परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार हितकर-सत्य वचन बोलना मौन से भी श्रेयस्कर है। इसलिए मनुस्मृति में कहा है-**मौनात्सत्यं विशिष्यते।** जैनाचार्य ने भी कहा है-

मौन रहे या सत्य कहे

मौनमेव हितं पुसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये।

वचो वाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्वोपकारियत्॥ (6)

पुरुषों को प्रथम तो समस्त प्रयोजनों का सिद्ध करने वाला निरंतर मौन ही अवलंबन करना हितकारी है और यदि वचन कहना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिए जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनों का हित करने वाला हो।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धांतार्थ विप्लवे।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने॥ (ज्ञानार्णव)

जब जहाँ सत्य धर्म का नाश होता हो, यथार्थ क्रिया का विध्वंस होता हो, समीचीन सिद्धांत-अर्थ का अपलाप। विनाश होता हो उस समय सम्यक् धर्म क्रिया और सिद्धांत के प्रचार-प्रसार, सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना चाहिए क्योंकि इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे स्व-पर-राष्ट्र-विश्व की सुरक्षा समृद्धि होती है।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिपाकृत्य यथायथम्।

जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना॥ (18)

अज्ञानरूपी अंधकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिनशासन के अनुसार महात्म्य को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियतउ।

भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुण करिया।। श्वे. साहित्य

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विष रूप समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात्।

ब्रुवतोऽनुग्रहबुध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।।

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है। उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है।

इसलिए तो पंचनमस्कार मंत्र में सिद्ध भगवान् के पहले अरिहंत भगवान् को नमस्कार किया गया भले सिद्ध भगवान् अरिहंत भगवान् से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि सिद्ध भगवान् उपदेश नहीं देते हैं तथा अरिहंत भगवान् उपदेश देते हैं। इसलिए तो मार्गदर्शन-हितोपदेशी गुरु का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञानदान/हितोपदेश को सबसे बड़ा पापहित दान कहा गया है और ज्ञानदानी को गुरु कहा गया है। आहार, औषधि, अभय दान करने वाले दानी, पुण्यात्मा होते हुए भी गुरु नहीं हैं, गुरु के जैसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, पूजनीय नहीं हैं। यदि तीर्थंकर, केवली, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, साधु, शिक्षक, समाज सुधारक, महान् क्रांतिकारी नेता, माता-पिता आदि हितोपदेश, शिक्षा, मार्गदर्शन नहीं देंगे तो मानव समाज का विकास ही रुक जायेगा।

समवशरण में भगवान् की दिव्य ध्वनि का निसृत होना, महात्मा बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन, धर्म प्रचारक से लेकर साधु-संतों के प्रवचन (सत्संग, कथावाचन) क्रांतिकारी नेता-समाज सुधारक आदि का भाषण, तत्त्वचर्चा, शंका समाधान आदि सब हितोपदेश के ही भेद-प्रभेद हैं। भले प्रवचन (प्र+वचन) सर्वज्ञ हितोपदेशी का ही होता है तथापि उनके अनुसार कथन करने वालों का भी प्रवचनसम (गौण रूप से प्रवचन) होता है और अपने-अपने क्षेत्र-विषयों में जो सत्य-तथ्य-हितकर वचन वह भी उपचार। व्यवहार से प्रवचन है। इन सबके द्वारा धर्मतीर्थ प्रवर्तन से लेकर

लोक व्यवहार का भी प्रवर्तन होता है। ऐसे बहुगुण युक्त, ज्ञान-विज्ञान-नीति-समाजनीति-राजनीति-न्यायनीति के संवाह का, प्रवर्तक वचन-शक्ति का सदा-सर्वदा-सर्वथा सदुपयोग रूप में ही प्रयोग करना अनिवार्य है वचेत दुरुपयोग से विनाश-ही-विनाश संभव है। इसलिए कहा है-“**बातें हाथी पाये, बातें हाथी पाये**” अर्थात् अच्छे वचनों से पुरस्कार रूप में हाथी मिल सकता है तो गलत वचनों से हाथी के पैर के नीचे दबाकर मृत्यु दण्ड भी प्राप्त हो सकता है। इसलिए वचन बोलने के पहले तौलकर बोलना चाहिए अन्यथा मौन रहना ही श्रेयस्कर है। इसलिए नीतिकार कहते हैं-“बोलना चाँदी है तो मौन सोना है।” “बोलने से जानकारी बढ़ती है तो मौन से विवेक बढ़ता है।” अतएव बोलने से पहले विवेक से तौलकर बोले। कथंचित् धनुष से छोड़ा हुआ बाण का संहार (वापिस) करना असंभव है परन्तु मुख से छोड़ा हुआ वाक्-बाण को संहार करना असंभव या असंभवसम या कष्ट साध्य है। जिस प्रकार कि आहार आदि दाता विशेष, पात्र विशेष, द्रव्य विशेष, विधि विशेष, क्षेत्र विशेष, काल विशेष आदि के अनुसार दिया जाता है उसी प्रकार या उससे भी अधिक महादान स्वरूप ज्ञानदान/हितोपदेश को दातादि विशेष से युक्त होकर देना चाहिए लेना चाहिए अन्यथा लाभ से अधिक हानियाँ संभव हैं।

हितोपदेशी के मधुर/स्नेहील गुण

णिद्धं मधुरं हृदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगते।

तो पल्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण।। (477) भ.आरा.

जो अपना अपराध नहीं कहता उस क्षपक को समझाने वाले आचार्य को एकांत में स्नेह से भरे, कानों को सुखकर और हृदय में प्रवेश करने वाले सुखदायक वचनों से शिक्षा देना चाहिए। प्राप्त सन्मार्ग रत्नत्रय के निरतिचार पालन में सावधान आयुष्मन् लज्जा, भय और मान छोड़कर दोषों को निवेदन करो। गुरुजन माता-पिता के समान होते हैं उनसे कहने में लज्जा कैसी? वे अपने दोष की तरह दूसरे यतियों के भी दोष किसी से नहीं कहते। जो यति धर्म पर मिथ्या दोषारोपण को नष्ट करने में तत्पर रहते हैं वे क्या अपयश फैला सकते हैं? मोक्ष मार्ग में प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजन में दूषण लगाना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। रत्नत्रयरूपी कमलों का वन यदि अतिचार रूपी हिमपात से नष्ट हो तो वह शोभित नहीं होता। पर निन्दा से नीचगौत्र कर्म का आश्रव होता है। जो दूसरों की निन्दा करता है वह स्वयं अनेक जन्मों में निन्दा

का पात्र बनता है। दूसरे के मन को असह्य संताप देने वाले के असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। साधुजन भी निन्दा करते हैं कि अपने धर्मपुत्र को यह इस प्रकार अपयश रूप कीचड़ से क्यों लिप्त करता है। इस तरह दूसरों के दोषों को प्रकट करना अनेक अनर्थों का मूल है। कौन समझदार उसे करना पसंद करेगा?

हितापदेशी के दूसरों को दोष न कहने का गुण

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा।

ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि। (488)

जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया गया जल बाहर नहीं जाता वैसे ही जिस आचार्य से कहे गये दोष व अन्य मुनियों पर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपरिश्राव गुण से युक्त होता है।

दोष कथक जिनधर्मी नहीं

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे।

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे।। (490)

भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषों को आचार्यों से कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान् के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरों से कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसा करने वाला आचार्य जिनधर्म से बाह्य होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना

तेणं रहस्सं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो।

अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव।। (491)

उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने ऐसा करके उस साधु का ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्त में यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देने पर वह लज्जित होकर दुःखी होगा अथवा आत्मघात कर लेगा, या क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को ही छोड़ देगा तथा उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं उसके मिथ्यात्व की आराधना का दोष भी होता है।

दोष कथक साधु को संघ से बहिष्कार करने योग्य
लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि।

विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छेज्ज वाध मिच्छंतं।। (492)

निर्यापकाचार्य के द्वारा दूसरे से साधु के गुप्त दोष कहने पर कोई क्षपक लज्जावश या मान की गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नहीं है। यदि मैं इसे प्रिय होता तो यह मेरा दोष क्यों कहता। यह गुरु मेरे बारे में चलते-फिरते प्रिय है ऐसा जो मैं सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकार की चिंता विपरीत परिणाम हैं। अथवा दोष प्रकट कर देने से कुपित होकर रत्नत्रय को छोड़ सकता है।

दोष कथक आत्मा के त्यागी

कोई रहस्सभेदे कदे पदोसं गदो तमारियं।

उद्दावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज व होज्ज पडिणीओ।। (493)

रहस्य भेद करने पर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्य को मार सकता है अथवा गण में भेद डाल सकता है कि इस स्नेह रहित आचार्य से क्या लेना-देना है? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगाएगा ऐसा कहकर अन्य साधुओं को विरोधी बनाकर गण में भेद डाल सकता है। अथवा विरोधी हो सकता है।

दोष कथक गण/संघ के त्यागी

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति।

सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं।। (494)

जैसे इस आचार्य ने अमुक साधु का दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण-गण से अलग हो सकता है अथवा आचार्य का त्याग कर सकता है।

शंका-इस गाथा में तो कहा है कि गण आचार्य को छोड़ देता है और पूर्व गाथा में कहा है कि आचार्य ने गण का त्याग किया। इन दोनों कथनों की संगति नहीं बैठती?

समाधान-अतः दोषों को प्रकट करने वाले आचार्य ने गण का त्याग किया अतः गण भी उसे छोड़ देता है।

तह चेव पवयणं सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स।

तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जुहणं चावि।। (495)

जिसमें रत्नत्रय “प्राच्येते” कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रवचन शब्द का अर्थ यहाँ संघ है। सभी संघ आचार्य के विरुद्ध हो सकता है और आचार्य पद को छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है।

सगणे व परगणे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह।

अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरु य।। (371)

अपने गण में या दूसरे गण में दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। अति आसादना से विरत रहो, सदा पाप से डरो।

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ।

परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा।। (372)

पर निन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुता को करती है, पाप रूप है, दुर्भाग्य को लाती है और सज्जनों को अप्रिय है।

किच्चा परस्स णिदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।

सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।। (373)

जो पर की निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है वह दूसरे के द्वारा कड़वी औषधि पीने पर अपनी निरोगता चाहता है अर्थात् जैसे दूसरे के औषधि पीने पर आप निरोग नहीं हो सकता है। वैसे ही दूसरे की निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता।

दट्टुण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।

रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण।। (374)

सत्पुरुष दूसरों के दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है। लोकापवाद के भय से वह अपनी तरह दूसरों के भी दोष को छिपाता है।

अप्पो वि वरस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।

उदए व तेल्लिबिंदु किह सो जंपिहिदि परदोसं।। (375)

दूसरे का छोटा-सा भी गुण सत्पुरुष को पाकर अति महान् हो जाता है। जैसे तेल की बूँद पानी में फैलकर महान् हो जाती है तब वह सत्पुरुष दूसरे के दोष को कैसे कह सकता है?

एसो सव्वसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणम्मि।

तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ कि विस्सुदा कित्ती।। (376)

यह समस्त उपदेश का सार है। ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनों में तुम्हारे गुणों से उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले।

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य।

चरण गुणसुद्धिदोत्तिय घण्णास्स खु घोसणा भमदि।। (377)

यह साधु अखण्डित समाधि के धारी हैं, बहुश्रुत हैं, दूसरों को कष्ट नहीं देते और चारित्र्य गुण में अच्छी तरह स्थित हैं। पुण्यशाली का यह यश सर्वत्र फैलता है।

बाढत्ति भणिदूणं ऐदं णो मंगलेत्ति य गणो सो।

गुरुगुणपरिणद भावो आणंदंसुं णिवाणेइ।। (378)

इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर संघ “हमें स्वीकार है” ऐसा कहकर आपके ये वचन हमारे लिए अत्यंत मंगल कारक है, ऐसा कहता है तथा गुरु के गुणों में मन लगाकर आनंद के आसूँ गिराता है।

भगवं अणुगगहो में जं तु सुदेहोव्व पालिदा अम्हे।

सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पावेत्ति।। (379)

भगवान्! आपका हम पर बड़ा अनुग्रह है। आपने अपने शरीर की तरह हमारा पालन किया है तथा “यह करो” और “वह मत करो” इत्यादि शिक्षा दी है। भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते हैं।

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं।

पडिलोमिदा य आणा हिदोवंदेस करिताणा।। (380)

आपकी आज्ञा और हित का उपदेश करने पर हमने जो अज्ञान, प्रमाद और रागवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिए हम भी आपसे क्षमा माँगते हैं।

सहिदय सकण्ण याओ कदा सचक्खु य लद्धसिद्धिपहा।

तुज्झ वियोगेण पुणो णट्टदिसाओ भविस्सामो।। (381)

आपने हमें हृदय युक्त अर्थात् विचारशील बनाया। हमें संपूर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानों का फल प्राप्त किया आपने हमें आँखें प्रदान की अर्थात् हमें शास्त्र स्वाध्याय में लगाया तथा आपके प्रसाद से हमने मोक्ष का मार्ग प्राप्त किया। अब आपके वियोग से हम दिशाहीन हो जायेंगे। हमें कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं रहेगा।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना क्यों?

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ।

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो।। (496)

यदि आचार्य अपने शिष्यों को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दोषी करते हैं तो इन अपुष्ट धर्म वाले श्रमणों को धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे।

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स।

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स।। (497)

जो आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे शिष्य के द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य गुप्त रखने वाला अपरिश्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते।

भाव विशुद्धि उत्कृष्ट तप से भी श्रेष्ठ

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि।

कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी।। (259) भ. आरा.

परिणामों की विशुद्धि को छोड़कर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी चित्तवृत्ति पूजा-सत्कार आदि में ही लगी होती है। उनके अशुभ कर्म के आस्रव से रहित शुद्धि नहीं होती। अर्थात् दोषों से मिली हुई शुद्धि होती है।

अविगट्ठ पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ।

अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवलं सुद्धि।। (260)

जो अति विशुद्ध शुक्ल लेश्या से युक्त और विशुद्ध परिणाम वाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धि को पाता है। यह गाथा का अर्थ है।

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति।

अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा।। (261)

जिसका चित्त कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्ध नहीं होती। इसलिये परिणाम विशुद्ध को कषाय संल्लेखना कहा है।

विशेषार्थ—जिस मुनि का चित्त क्रोधाग्नि के द्वारा कलुषित है उस मुनि के परिणाम विशुद्ध नहीं हैं। अतः उसके कषाय संल्लेखना नहीं है। कषाय के कृश करने

को कषाय संल्लेखना कहते हैं और कषाय के कृश हुए बिना परिणाम विशुद्धि नहीं होते। अतः परिणाम विशुद्धि के साथ कषाय संल्लेखना का साध्य साधन भाव संबंध है।

क्रोधं खमाए माणं च महवेणाज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जिणह खु चत्तारि वि कषाय।। (262)

जो शुभ परिणामों के प्रवाह में बहता है वही चार कषायों की संल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारों कषायों को कृश करने का उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकार के परिणाम हैं, यह कहते हैं-

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से, इस प्रकार चारों कषायों को जीतो।

क्रोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं।

जो ताण कसायाणं उत्पत्ति चेव वज्जेइ।। (263)

उन कषायों की उत्पत्ति को ही रोक देता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ के वश में नहीं होता।

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि।

तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणां।। (264)

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषाय रूपी आग उत्पन्न होती है और उस वस्तु को अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से कषायों का उपशमन हो।

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्झवेदव्वो।

रागद्दोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहंरतस्स।। (265)

यदि थोड़ी भी कषाय रूपी आग उठती हो तो उसे बुझा दें। जो कषाय को दूर करता है उसके राग-द्वेष की उत्पत्ति शांत हो जाती है। नीच जन की संगति की तरह कषाय हृदय को जलाती है। अशुभ आंगोपांग नामकर्म के उदय से जो मुख विरूप होता है जैसे धूल पड़ने से आँख लाल हो जाती है वैसे ही क्रोध से मनुष्य काँपने लगता है। जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोध में मनुष्य जो चाहे बोल देता। जैसे जिस पर भूत का प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है। कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टि को मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शन रूपी वन को उजाड़ देती है। चारित्ररूपी सरोवर को सुखा देती है।

तपरूपी पत्रों को जला देती है। अशुभकर्म रूपी बेल की जड़ जमा देती है। शुभकर्म फल को रसहीन कर देती है। अच्छे मन को मलिन करती है। हृदय को कठोर बनाती है। प्राणियों का घात करती है। वाणी को असत्य की और ले जाती है। महान् गुणों का भी निरादर करती है। यशरूपी धन को नष्ट करती है। दूसरों को दोष लगाती है। महापुरुषों के भी गुणों को ढाँकती है, मित्रता की जड़ खोदती है। किये हुए भी उपकार को भुलाती है। महान् नरक के गढ़े में गिराती है। दुःखों के भँवर में फँसाती है। इस प्रकार कषाय अनर्थ करती है। ऐसी भावना से कषाय को शांत करना चाहिए।

भाषा विज्ञान एवं कर्म सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में

वचनगुप्ति एवं उसके फल

शब्द के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद

शब्द तीन प्रकार का होता है जैसे कि-जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। इन तीनों में सभी शब्दों का अंतर्भाव हो जाता है। चौथे प्रकार का शब्द विश्वभर में नहीं है। जीव के द्वारा जो शब्द होता है उसके दो ही प्रकार हैं-एक अक्षरात्मक और दूसरा अनक्षरात्मक। उक्त दोनों शब्दों का समावेश भाषा में हो जाता है। सूत्रकार ने जीव शब्द को भाषा के नाम से व्यवहृत किया है। क्योंकि भाषा-पर्याप्ति-नाम कर्मोदय से उत्पन्न हुआ जीव शब्द भाषा ही कहलाता है जो जीव के द्वारा बोलने में आती है वही भाषा है। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक जो कुछ भी वे जानते हैं स्वभाव से बोलते हैं वही भाषा है। वह वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक दोनों तरह की होती है। नन्दीसूत्र में इन्हें अक्षर-श्रुत और अनक्षर-श्रुत के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

नो भाषा शब्द दो प्रकार का होता है, जैसे कि-आतोघ अर्थात् वाद्य-विशेष से होने वाला शब्द और नोआतोघ अर्थात् बिना वाद्य-पनों से उत्पन्न शब्द इनमें जो आतोघ-जन्य शब्द है उसके मुख्यतया दो भेद हैं-तत और वितत/चमड़ा लपेटे हुए ढोल मृदंग आदि वाद्यों से होने वाले शब्द को तत् कहते हैं। तार वाले-सारंगी, सितार, वीणा और तानपूरा आदि वाद्यों से होने वाले शब्द को वितत कहते हैं। झालर, घुंघरूँ एवं घंटे आदि से होने वाले शब्द को घन कहते हैं और बैँड, बीन, बंसी आदि वाद्यों से होने वाले शब्द को शुषिर कहते हैं। आदि शब्द से हार्मोनियम आदि आधुनिक वाद्यों का भी इसी भेद में समावेश हो जाता है। वक्तिकार लिखते हैं-

तंत वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकं।

घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुर्षिरं मतम्॥

विश्व में जितने तरह के बाजे हैं, उनमें कुछ मुँह से बजाये जाते हैं और कुछ हाथ आदि साधनों से बजाये जाते हैं। उसकी रचना जीव के द्वारा होती है और जीव ही उन्हें बजाता है अतः भाषा शब्द का प्रयोग किया गया है जितने भी संगीत के उपकरण (साज-बाज) हैं वे सब नोभाषा शब्द की कोटी में आ जाते हैं। नोभाषा शब्द भी दो प्रकार के होते हैं-एक भेद में उपकरणों का अंतर्भाव हो जाता है और दूसरे भेद में भूषण शब्द और नोभूषण शब्दों का समावेश होता है। भूषणों की मधुर ध्वनि का होना गति और नृत्य पर अवलंबित है अतः नो भूषण, शब्द के दो भेद हैं-जैसे कि ताल-हाथों से ताली बजाना, लतिया-पैरों की आहट या अभिमान से एवं अतिहर्ष से पाणिप्रहार करना इत्यादि शब्द जीव के द्वारा किए जाते हैं।

पुद्गलों के मिलने पर, संयोग से, संघर्ष से और टक्कर आदि से शब्द की उत्पत्ति होती है जैसे कि दो विरोधी दिशाओं की वायु की टक्कर से शब्द होता है पृथ्वी के साथ पृथ्वी, जल के साथ जल, तेज के साथ तेज मिलने से माचिस की तीली घिसाने से अर्थात् पुद्गल का संघर्ष है तब शब्द होता है इसी प्रकार उनके भेदन से, छेदन से, बिछुड़ने से शब्द उत्पन्न हुआ करता है। जैसे कि बाँस के विदारण कटने से, कपड़ा फाड़ने से, धागा तोड़ने से, बम से फटने से गोली से चलने शब्द उत्पन्न हुआ करते हैं। जितने भी प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं। वे उक्त दो भेदों में समाविष्ट हो जाते हैं। शब्द उत्पत्ति का तीसरा कोई कारण नहीं है। (पृ. 206 स्थानांग सूत्र-2)

वाणी-वर्णन

वाणी का अर्थ है वचन, भाषा-पर्याप्ति अर्थात् अभिव्यक्ति का सामर्थ्य अभिव्यक्ति का सामर्थ्य होने पर ही वाणी का प्रयोग किया जाता है। यहाँ शब्द से भाववाक् का ग्रहण हुआ है। औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरों के व्यापार से गृहीत वाग्-द्रव्य-समूह की सहायता से जो जीव का व्यापार होता है वह वाग्-योग कहलाता है। यद्यपि वाणी सत्य, असत्य, मिश्र, असत्यामृषा इस तरह चार प्रकार की है, तथापि वचन सामान्य की अपेक्षा समस्त वचनों में एकत्व होने के कारण वाणी को भी एक कहा गया है।

द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों

की वाणी असत्यामृषा ही होती है किन्तु विशिष्ट संज्ञी-तिर्यच चारों प्रकार की वाणी का प्रयोग कर सकता है। तेहरवें गुणस्थान तक वाग्-योग पाया जाता है। फिर भी “सर्ववाचां वचनसामान्येऽतर्भा-वादिति” वचन-सामान्य की अपेक्षा वाणी रूप होने से समस्त जीवों की वाणी एक ही है। (पृ. 31 स्थानांग सूत्र-2)

भाषा के 4 भेद

**चत्तारि भासाजाया पण्णत्ता, तं जहा-सच्चमेगं भासज्जायं,
वीयं मोसं तइयं सच्चमोसं, चउत्थं असच्चमोसं।**

मानवता कभी मूक नहीं रही अतः मानवता और भाषा का साक्षात् संबंध है। यद्यपि विभिन्न प्रदेशों के लोग विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं तदपि उनका सामान्यतः चतुर्विध वर्गीकरण स्वीकार किया गया है-सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

(1) **सत्य भाषा**-जो भाषा ज्ञानियों एवं संतों को प्रिय है जो अनुसंधान और परीक्षण में सही उतरने वाली है, जिसमें मन-वचन और काया का सामंजस्य होता है। उसे सत्य भाषा कहते हैं।

(2) **असत्य भाषा**-जो अनुसंधान एवं परीक्षण से प्रमाणित नहीं होती, जिसे उत्तम पुरुष एवं महात्मा पसंद नहीं करते जो सत्य से सर्वथा विपरीत है उसे असत्य भाषा कहते हैं। जैसे कि “आत्मा, परमात्मा, धर्म, कर्म, लोक, परलोक आदि कोई वस्तु नहीं है।” यह सत्य से विपरीत असत्य भाषा है।

(3) **मिश्र भाषा**-जिस भाषा में सत्य और असत्य दोनों का मिला-जुला-सा प्रयोग होता है। उसे मिश्र भाषा कहते हैं। क्योंकि एक और उसका अस्तित्व मानना और दूसरी ओर उसके गुण स्वभाव से विपरीत बात करना मिश्र भाषा का प्रयोग कहा जा सकता है। राजनैतिक मस्तिष्क के व्यक्ति प्रायः इसी भाषा का प्रयोग किया करते हैं।

(4) **असत्य मृषा भाषा**-जो भाषा न सत्य की कोटि में हो और असत्य की कोटि में भी न हो अर्थात् दोनों से विलक्षण हो उसी भाषा को असत्यामृषा या व्यवहार भाषा कहा जाता है। शास्त्रकारों ने इसके बारह रूपों का वर्णन किया है। इनमें से महापुरुष सत्य भाषा और व्यवहार भाषा का ही उपयोग करते हैं शेष भाषाओं का नहीं। (पृ. 655 क्षी. स्थानांगसूत्र)

(धर्मकथा के 4 भेद)

विकथाओं के परित्याग के अनन्तर ही धर्मकथा का लाभ प्राप्त हो सकता है। अतः विक्रया के अनन्तर सूत्रकार धर्मकथा के स्वरूप एवं भेदोपभेदों की अवतारण करते हैं। जिसके कहते और सुनने से धर्म जिज्ञासा उत्पन्न हो तथा कर्म-बंधन से छूटकर निर्वाण-पद प्राप्त करने की उत्कंठ इच्छा उत्पन्न हो, उसे धर्मकथा कहते हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो उसमें सदा रहे उससे कभी भी अलग न हो वह धर्म है।

विनय, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, संयम, तप, त्याग, सदाचार, संतोष, दान, समता, शांति इत्यादि सभी गुण धर्म के अंग हैं और आत्मा के अपने विशेष 'गुण' हैं। जब तक आत्म गुणों का पूर्ण विकास न हो जाए तब तक विकास-साधना के लिए निरंतर यत्नशील रहना धर्म है। दूसरे शब्दों में वैभाविक गुणों से निवृत्त होकर स्वाभाविक गुणों में रमण करना ही धर्म है। जो प्रवचन धर्म तत्त्व को जागृत करने वाले हैं उनके कहने और सुनने को धर्मकथा कहा जाता है। उसके मुख्यतया चार भेद हैं। जैसे कि आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी।

आक्षेपणी-वह धर्मकथा जिसके कहने और सुनने से वक्ता और श्रोता मोह से हटकर तत्त्व की ओर आकृष्ट हो उसे आक्षेपणी धर्मकथा कहा जाता है। इनके भी चार रूप हैं जैसे कि आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद इनकी संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है-

(1) **आचार-आक्षेपणी कथा**-साधु और श्रावक के आचार को बतलाने वाली कथा अथवा आचार प्रधान शास्त्रों को कथा या व्याख्या के द्वारा श्रोताओं को धर्म की ओर आकृष्ट करने वाली कथा/आचार-आक्षेपणी कथा है।

(2) **व्यवहार-आक्षेपणी कथा**-कोई भी दोष लग जाने पर उसकी विशुद्धि के लिए या प्रायश्चित्त करने के लिए जिस कथा से श्रोता उद्यत हो अथवा व्यवहार आदि सूत्रों की ऐसी विस्तृत व्याख्या करना जिससे प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शिष्य या श्रोता विशुद्ध हो सके उस कथा को व्यवहार-आक्षेपणी धर्मकथा कहा जाता है।

(3) **प्रज्ञप्ति-आक्षेपणी कथा**-संशयापात्र श्रोताओं के संशयों को मधुर वचनों से दूर करने वाली कथा या प्रज्ञप्ति सूत्र के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं की तत्त्वों की ओर आकृष्ट करने वाली कथा प्रज्ञप्ति आक्षेपणी धर्मकथा कहलाती है।

(4) **दृष्टिवाद**-आक्षेपणी कथा-श्रोताओं को लक्ष्य में रखकर सात नयों से या प्रमाणों के अनुरूप अनुयोग या निक्षेपों के अनुसार जीव आदि तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन अथवा दार्शनिक विषयों की ऐसी व्याख्या करने वाली कथा जिससे श्रोताओं में धर्म-तत्त्व के प्रति अभिरूचि उत्पन्न हो जाए उसे दृष्टिवाद-आक्षेपणी धर्मकथा कहते हैं। (पृ. 784 स्थानांग सूत्र)

विक्षेपणी कथा-श्रोताओं को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने वाली कथा या सन्मार्ग के गुण या लाभ बताकर तथा उन्मार्ग के दोष एवं हानियाँ बताकर सन्मार्ग में रूचि जागृत करने वाली कथा विक्षेपणी धर्मकथा कहलाती है। इसके भी चार भेद हैं- स्वसमय, परसमय, सम्यग्वाद और मिथ्यावाद। इनका विवेचन इस प्रकार है-

(1) स्वसमय का अर्थ है 'अपना-सिद्धांत।' पहले अपने सिद्धांत पर प्रकाश डालकर फिर दूसरों के सैद्धांतिक दोषों को प्रदर्शित करने वाली कथा पहली विक्षेपणी कथा है।

(2) पहले दूसरे के सैद्धांतिक दोषों को प्रदर्शित कर फिर स्वसिद्धांत की स्थापना करने वाली कथा दूसरी विक्षेपणी-कथा है।

(3) दूसरे के सिद्धांत में जितनी बातें घुणाक्षर न्याय से जिनागम समस्त हो उन्हें कहकर जिनागम से विपरीत सिद्धांत में दोष दिखाना अथवा आस्तिकवाद का अभिप्राय बताकर नास्तिकवाद में दोष प्रमाणित करने वाली तथा तीसरी विक्षेपणी-धर्मकथा है।

(4) सम्यग्वाद का अर्थ है आस्तिकवाद और मिथ्यावाद का अर्थ है नास्तिकवाद। पहले मिथ्यावाद को कहकर फिर सम्यक्वाद की स्थापना करने वाली अथवा नास्तिकवाद का खंडन करके फिर आस्तिकवाद की स्थापना करने वाली चौथी विक्षेपणी धर्मकथा है।

विक्षेपणी कथा कहने का अधिकार उसी वक्ता को है जो स्वसिद्धांत और परसिद्धांत में निपुण है। व्याख्यान-लब्धि-संषत्र है तथा प्रवचना-प्रभावना में कुशल और प्रभावशाली है अन्यथा लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ती है।

संवेगनी कथा-जिस धर्मकथा के द्वारा वक्ता और श्रोता के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो, संसार से निवृत्ति के भावना जाग उठे और मोक्ष प्राप्त करने की उत्कंठ भावना जागृत हो, उसे संवेगनी-धर्मकथा कहा जाता है। इसके भी मुख्यतया चार भेद

हैं-इहलोक-संवेगनी, परलोक-संवेगनी, स्वशरीर-संवेगनी और परशरीर-संवेगनी।

(1) इहलोक संवेगनी कथा-जिससे हृदयमान जगत् की असारता से विरक्ति हो वह इहलोक-संवेगनी कहलाती है।

(2) जिस कथा के सुनने से परलोक संबंधी दुःखों का ज्ञान हो या परलोक का स्वरूप बताकर वैराग्य उत्पन्न हो जैसे कि परलोक में देवता भी भय शोक ईर्ष्या विषाद वियोग इत्यादि विविध दुःखों से दुःखी हैं, इत्यादि रूपों में परलोक का स्वरूप बताकर श्रोताओं के हृदय में संसार से विरक्ति जागृत करने वाली कथा (परलोक-संवेगनी कथा कहलाती है)।

(3) जिसके सुनने से अपने शरीर से भी घृणा हो जाए, जैसे कि यह शरीर अपवित्र है। क्योंकि इसमें मांस, मेद, अस्थियाँ और मल-मूत्र जैसे गंदे पदार्थ भरे पड़े हैं। यह अपवित्र द्वारा से निकला हुआ है और अपवित्रता को जन्म देने की परंपरा का कारण है इस प्रकार की भावनाओं को जागृत कर विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा को “आत्म-शरीर संवेगनी-कथा” कहा जाता है।

(4) जिस कथा का संबंध स्व-शरीर न होकर हो अर्थात् किसी अपाहिज की दुर्दशा का किसी कुष्ठी का किसी वेदना का किसी भयंकर रोग से ग्रस्त व्यक्ति की पीड़ाओं का ऐसा मार्मिक वर्णन करना कि उससे श्रोताओं में वैराग्य वृत्ति जागृत हो जाए ऐसे कथा को परलोक-संवेगनी-कथा कहा जाता है।

निर्वेदनी कथा-इस संसार में किये हुए कर्मों का फल जीव को यही भोगना पड़ता है। जो किसी पूर्वकृत महान् कर्मों के उदित होने के कारण उन कर्मों का फल यहाँ नहीं भोग पाते उन्हें कर्मों का फल परलोक में भोगना पड़ता है। कृत कर्म का फल भोगे बिना जीव का छूटकारा नहीं है। ‘कर्म-गति टारी नाही टरे’ के सिद्धांत का विवेचन कर विरक्ति जागृत करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहा जाता है। इस कथा के दो भाग हैं। पाप और पुण्य। पाप से संबंध रखने वाली चार भंग और पुण्य से संबंध रखने वाले चार भंग होने से इसके आठ भंग बन जाते हैं।

(1) कभी-कभी इस जन्म में किए हुए पापकर्म इसी जन्म में दुःख देने वाले बन जाते हैं। जैसे चोरी करने वाले परस्त्री गमन करने वाले एवं हत्यारे लोग यही पर जेलों में सड़ते, अपमानित होते हैं और फाँसी के फंदों में लटकते देखे जाते हैं। यह प्रथम निर्वेदनी कथा है।

(2) कभी-कभी इस जन्म में किए हुए दुष्कर्म यहाँ फल नहीं दे पाते क्योंकि पूर्वकृत किसी महान् पुण्य के उदय होने के कारण उस पाप-कर्म को फल देने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता तब वे कर्म इस लोक में अपना फल न देकर परलोक में अर्थात् नरक-याचना के रूप में फल दिया करते हैं। इस प्रकार के कार्यों की विवेचना करने वाली कथा द्वितीय निर्वेदनी कथा कही जाती है।

(3) जीवों को अन्य लोकों में किए हुए दुष्कर्मों का फल कभी-कभी यहाँ आकर भुगतना पड़ता है क्योंकि वहाँ पर कृत दुष्कर्मों को फल देने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता, इन्हीं कर्मों के कारण अनेक जीव जन्मजात रोगी, अंधे, कूबड़े एवं अपंग होते हैं। कर्मों की इस प्रकार की कथा को तृतीय निर्वेदनी कथा कहा जाता है।

(पृ. 784 क्षी.स्था. सूत्र)

(4) कभी-कभी जीव को परलोक में अर्थात् तिर्यच आदि योनियों में एवं कृत कर्मों का फल भोगने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता, तब वह अन्य तिर्यच आदि योनियों में एवं नरकादि में ही जाकर उन कर्मों का फल भोगता है। कर्म-गति का ऐसा वर्णन करना जिससे श्रोताओं में वैराग्य का उदय हो जाये उसे चतुर्थ ‘निर्वेदनी-कथा’ कहा जाता है।

इसी प्रकार शास्त्रकार ने पुण्यानुबंधी कर्मों का भी चतुर्विध विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है-

(1) कभी-कभी जीव इस लोक में किये हुए उत्कृष्ट शुभ कर्मों के फल को यहाँ भोगने का अवसर प्राप्त कर जैसे तीर्थकर का दिया हुआ वर्षादान इस लोक में ही फलदायक होता है, उसे ‘प्रथम पुण्यानुबंधिनी निर्वेदनी-कथा’ कहा जाता है।

(2) कभी-कभी जीव अपने द्वारा कृत पुण्य कर्मों का फल यहाँ नहीं प्राप्त कर पाता है, क्योंकि पूर्व जन्मों में किए गए पाप-पुण्य का उदय उन्हें साधना एवं तप में लीन रहने के कारण फल देने का अवसर नहीं आने देता है तब जीव उन कर्मों का फल परलोक में जाकर प्राप्त करता है जैसे सम्यक् साधना संपन्न सु-साधु इस लोक में सुख-भोग प्राप्त न करके परलोक में जाकर प्राप्त करता है। इस प्रकार के कर्मों का वैराग्य साधक वर्णन करना पुण्यानुबंधिनी निर्वेदनी-कथा का द्वितीय रूप है।

(3) कभी-कभी जीव अतीत भवों में कृत पुण्य कर्मों का फल इस संसार में मानव-रूप में जन्म लेकर प्राप्त करता है। जैसे तीर्थकर बनने वाली दिव्य आत्माएँ परलोक-कृत पुण्यों के उदय से तीर्थकर पद प्राप्त कर देती हैं। कर्म-परंपरा के वैराग्य के

उदय में सहायक इस रूप को पुण्यानुबंधिनी तृतीय निर्वेदनी कथा कहा जाता है।

(4) जब जीव अन्य जन्म में कृत कर्मों का फल मध्य के भव में न पाकर इस भव में आकर प्राप्त करता है। जैसे तीर्थकर नाम गोत्र बाँधकर आने वाली आत्माएँ स्वर्गादि में फल न पाकर यहाँ आकर तीर्थकर पद प्राप्त करती हैं तब कर्म-गति के इस वैराग्य-साधक रूप के वर्णन को पुण्यानुबंधिनी निर्वेदनी कथा का चतुर्थ रूप कहा जाता है। धर्मकथा का प्रवचन एवं विश्लेषण श्रोता और वक्ता दोनों के लिए कल्याणकारी है, क्योंकि प्रवचन-समय में वक्ता की चित्त-वृत्तियाँ धर्मसागर की चिंतन लहरों में तैरने लगती है। चित्त-धर्म-वृत्ति पर एकाग्र हो जाता है। धीरे-धीरे पाप से उपरति और धर्म के प्रति अनुरक्ति बढ़ने लगती है यह धर्मानुरक्ति कर्म-निर्जरा में सहायक होती है। श्रोता भी पाप और पुण्य के स्वरूप को समझता हुआ पाप से दूर और धर्म के निकट होता जाता है। वह भी प्रवचन काल में इतना एकाग्र हो जाता है कि कुछ क्षणों के लिए आत्म-प्रतिष्ठित होकर कर्म निर्जरा करता हुआ शुद्ध-बुद्ध हो जाता है।

अतः यह धर्मकथा-विश्लेषण वक्ता श्रोता दोनों के लिए मंगलकारी है।

(पृ. 784 स्थानांग सूत्र)

असत्य रूपी हिंसा का लक्षण

यदिदं प्रमाद-योगादसदभिधानं विधीयते किमपि।

तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः॥ (91)

Wherever any wrong statement is made through Pramada Yoga (Careless activity of body, mind, speech), it is certainly known as falsehood. It is divided into 4 kinds.

व्याख्या-भावानुवाद-प्रमाद के योग से जो कुछ असत् कथन कहा जाता है वह सब झूठ है। उस असत्य के चार भेद हैं। यथा-सद्भाव को छुपाना और अशुद्ध भाव का कथन करना जैसा कि आत्मा है परन्तु परलोक नहीं है, असत्य का उद्भावन करना यथा श्याम तन्दुल के समान या अंगुष्ठ पर्व मात्र या सर्वगत अथवा निष्क्रिय आत्मा है। जो विद्यमान अर्थ है उसका भी कथन यदि कषाय तथा प्राणी पीड़ा सहित है तो वह कथन विपरीत है, असत्य है क्योंकि जो हिंसाकारक है वह सत्य होते हुए भी असत्य हैं। सत् प्रतिषेध तथा भूत-निहव का एक ही अर्थ है उसमें अर्थ भेदनीय है। अभूत उद्भावन तथा असद् उद्भावन दोनों में नाम भेद होते हुए भी अर्थ

भेद नहीं है। क्योंकि असद् उद्भावन का अर्थ है जो नहीं है उसको प्रकट करना।

समीक्षा—पहले ही आचार्यश्री ने प्रतिपादन किया था कि प्रमाद रूपी हिंसा में असत्य आदि पाप गर्भित है केवल प्राथमिक शिष्य को समझाने के लिए असत्य आदि का कथन विस्तारित किया जाता है। इस श्लोक में आचार्यश्री असत्य को प्रमाद में अंतर्गत करके उसे हिंसा रूप से सिद्ध कर रहे हैं। केवल झूठ/असत्य का कथन करना मिथ्यारूपी हिंसा नहीं है परन्तु कषाय/प्रमाद से युक्त होकर सत्य भी कहना असत्य है हिंसा है। सामान्यतः सुना जाता है और कुछ छोटी-छोटी पुस्तकों में भी पढ़ाया जाता है कि जो देखा हुआ जो सुना हुआ उसको उसी प्रकार नहीं बोलना असत्य है परन्तु यह परिभाषा पूर्ण तथा यथार्थ नहीं है। जैसे-धीवर ने एक व्यक्ति को पूछा कि मछलियाँ कहाँ हैं? उस व्यक्ति ने देखा था कि तालाब में मछलियाँ हैं। उसने बोल दिया कि उस निश्चित तालाब में मछलियाँ हैं। उस धीवर ने जाकर तालाब में जाल बिछाकर मछलियों को पकड़ लिया तो क्या उस व्यक्ति ने जो सत्य बोला वह सत्य सत्य है? नहीं, वह सत्य सत्य नहीं है क्योंकि उससे अनेक जीवों की हिंसा हुई। इसी प्रकार काना को काना, अंधे को अंधा, लँगड़े को लँगड़ा आदि बोलकर चिढ़ाना, अपमानित करना सत्य नहीं है क्योंकि उससे भाव हिंसा होती है। सत्य की संक्षिप्त सारगर्भित परिभाषा निम्न प्रकार की है-

हित-मित-प्रिय वचः जीव हित साधकम्।

स सत्यं आगम वचः स्याद्वाद सहितम्।।

जो वचन हितकारी है, सीमित है, प्रियकर है, जीव के लिए हितकारी है, आगम अनुकूल है और स्याद्वाद सहित है वही वचन सत्य हैं।

जो सत्य एवं मधुर वचन होते हुए भी यदि कुमार्ग में प्रवृत्त कराता है तो वह वस्तुतः सत्य वचन नहीं है अपितु असत्य वचन है। इसलिये वचन हितकर होना चाहिए। यथार्थ वचन भी अनर्गल प्रवृत्ति से, वाचाल स्वरूप से एवं अयोग्य द्रव्य-क्षेत्र-कालादि से बोलने पर वे वचन सत्य नहीं है क्योंकि वे वचन मित विशेषण से रहित है। सत्य वचन भी यदि प्रिय नहीं है, कर्ण मधुर नहीं है, मृदु नहीं है और उस वचन से अप्रियता, द्वेष, कटुता पैदा होती है तो वचन भी सत्य वचन नहीं है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम से विरोध वचन भी सत्य वचन नहीं है। इसलिए सत्यवादी को आगमानुकूल बोलना चाहिए। आगम के अनुकूल बोलते हुए भी हठग्राहिता से स्वार्थ

या पंथसिद्धि के लिए अनेकांत स्याद्वाद को छोड़कर अपेक्षा को दुर्लक्ष्य करके जो बोलता है वह भी बड़ा असत्य है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियं चानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।।

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, सत्य होते हुए भी अप्रिय नहीं बोलना चाहिए। प्रिय असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए यह सनातन धर्म है।

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।

जाके हृदये साँच है ताके हृदये आप।।

सत्य के बराबर तप नहीं है, झूठ के बराबर पाप नहीं है, जिसके हृदय में सत्य सत्य है उसके हृदय में भगवान् है।

झूठी गवाही देना, कोर्ट में अन्याय पक्ष को लेकर वकालत करना, दूसरों को ठगने के लिए जालसाजी वचन कहना आदि असत्य वचन है। जो असत्य बोलता है उसको वर्तमान भव में जिह्वा छेदन दण्ड मिलता है, परभव में जिह्वा में एवं मुख में विभिन्न रोग होते हैं तथा उसका कोई विश्वास नहीं करता है और ऐसे असत्य भाषी परभव में मूक बनता है।

सत्य का निषेध करना हिंसा

स्वक्षेत्र-काल भावैः सदपि हि यस्मिन् निषिध्यते वस्तु।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।। (92)

A statement by which the existence of a thing with reference to its position, time, and nature is denied is the first kind of falsehood; for example, to say "Deva Datta is not here" (when he is present).

व्याख्या-भावानुवाद-सत्य वस्तु को भी स्वक्षेत्र काल, भाव से निषेध करना प्रथम असत्य है। जैसे-देवदत्त की उपस्थिति में भी देवदत्त नहीं है यह कहना। इसी प्रकार निश्चित सत्य वस्तु की विद्यमानता में भी उसका निषेध करना प्रथम असत्य है। ऐसे ही द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा विद्यमान होते हुए भी निषेध करना प्रथम असत्य है।

असत्य का कथन हिंसा

असदपि हि वस्तुरूपं, यत्र परक्षेत्र-काल भावैस्तेः।

उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथाऽस्ति घटः॥ (93)

Where a thing does not exist, with reference to the position, time and nature of other objects and it is said to exist, the statement is the second kind of falsehood e.g., to say (Pitcher is here) (When it is not actually there).

व्याख्या-भावानुवाद-जो परक्षेत्र, काल भाव से असत् होते हुए भी उसे वस्तुरूप से सत् रूप से प्रकटीकरण करना वह द्वितीय असत्य वचन है। अविद्यमान घट को अर्थात् पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में घट नहीं होते हुए भी घटरूप में कहना इसका उदाहरण है।

समीक्षा-स्व द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य सत् होते हुए भी पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा उसका अस्तित्व नहीं होने से उसका अभाव है इसलिए असत् है। ऐसे असत्य का जो कथन किया जाता है वह द्वितीय असत्य है।

अन्यथा रूप कथन : हिंसा

वस्तु सदपि स्वरूपा पररूपेणाऽभिधीयते यस्मिन्।

अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथा अश्वः॥ (94)

The third kind of falsehood is that, where an existing thing is represented as something different from what it really is, for example, when a horse is said to be a cow.

व्याख्या-भावानुवाद-स्व-स्वरूप से सत्य वस्तु को पर रूप से कथन करना यह तृतीय असत्य है। यथा गौ को घोड़ा कहना। गौ स्व-स्वरूप से स्व-आकार से सत्यरूप में विद्यमान होते हुए भी उसे अश्व रूप में कथन करना तृतीय असत्य वचन है। गौ का स्वरूप अलग अस्तित्व को रखता है तथा अश्व का स्वरूप अलग अस्तित्व को रखता है। दोनों अपना-अपना अस्तित्व रखते हुए भी एक के अस्तित्व में दूसरे के अस्तित्व का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में एक के अस्तित्व में दूसरे का अस्तित्व आरोपित करना तृतीय असत्य है।

समीक्षा-प्राचीन चार्वाक मतवादी तथा आधुनिक कुछ भौतिक विज्ञानवादी रासायनिक प्रक्रिया से जायमान एक अवस्था विशेष को या शक्ति विशेष को जीव कहते हैं। यह मत ऊपर वर्णित तृतीय असत्य के अंतर्गत है क्योंकि जीव का अस्तित्व पृथक् है और भौतिक वस्तु का अस्तित्व पृथक् है। पुद्गल के अस्तित्व में

जीव के अस्तित्व को मानना या आरोपित करना तृतीय अस्तित्व का एक उदाहरण है।

अशिष्टादि कथन : हिंसा

गर्हितमवद्य-संयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।

सामान्येन त्रेधा, मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥ (95)

Speech of 3 kinds, Garhita, Condemnable; Savadya, sinful, or Apriya, disagreeable, is ordinarily speaking, said to be the fourth kind of falsehood.

व्याख्या-भावानुवाद-चतुर्थ प्रकार के असत्य के तीन भेद हैं यथा गर्हित, पाप संयुक्त, अप्रिय रूप वचन। इसमें अभूत का उद्भावन किया जाता है। जो कुत्सित वचन है उसे गर्हित वचन कहते हैं। जो पाप से संयुक्त वचन है उसे अवद्य संयुक्त वचन कहते हैं। जो अनिष्टकारी वचन है उसे अप्रिय वचन कहते हैं। मर्म को क्षत-विक्षत करने वाले कठोर निन्दनीय भंगिमा युक्त चुगलखोर वचन आदि इसके अंतर्गत हैं।

गर्हित (निन्दा) वचन भी हिंसा

पैशून्य-हास, गर्भ, कर्कशमसमंजसं प्रलापितं च।

अन्यदपि यदुत्सूत्रं, तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥ (96)

Garhita speech is said to be all that, which is back biting, harsh, unbecoming, nonsensical, or otherwise uncanonical.

व्याख्या-भावानुवाद-तीन प्रकार के असत्य में से यहाँ गर्हित वचन का प्ररूपण करते हैं। जो वचन पैशून्य अर्थात् चुगलखोरी/अदृहास्य से भरा है उसे गर्हित वचन कहते हैं। पुनः जो वचन कर्कश, कठोर, असमंजस, संदेहात्मक, असभ्य, अयोग्य वचन हैं वे भी गर्हित वचन हैं। इसी प्रकार जो बकवास से भरा गप्पेबाज, अधिक बोलना, उत्श्रृखल बोलना, भगवान् के प्रामाणिक वचन से बाह्य वचन बोलना ये सब वचन कुत्सित, गर्हित वचन हैं।

समीक्षा-उपर्युक्त वचन में विशेषतः प्रमाद, कुटिलता, धूर्तता, कठोरता, मूर्खता आदि दुर्गुण पाये जाते हैं। इससे दूसरों को तो कष्ट पहुँचता ही है परन्तु स्वयं की शक्ति तथा समय का दुरुपयोग होता है। अंतरंग से दूषित भाव से प्रेरित होकर यह वचन प्रयोग करने के कारण स्वयं को तो पाप बंध होता

ही है तथा दूसरों के मन में संक्लेश परिणाम होने के कारण दूसरों के पापबंध का भी कारण बनता है। इतना ही नहीं उपर्युक्त वचनों से शब्द प्रदूषण होता है। कलह, तनाव, वैमनस्य बढ़ता है, फूट पड़ती है जिससे मानसिक, पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण प्रदूषित हो जाता है। प्रायः तुच्छ व्यक्ति उपर्युक्त वचन का प्रयोग करते हैं। मेरा स्वयं का अनुभव है भारत के अधिकांश व्यक्ति उपर्युक्त वचन में ही अधिक समय तथा शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। मंदिर हो या स्कूल, धर्मसभा हो या संसद भवन, तीर्थ स्थल हो या सामाजिक सार्वजनिक स्थल यत्र-तत्र सर्वत्र भारत में उपर्युक्त वचन का ही गरमागरम माहौल रहता है। महत्वपूर्ण और जरूरी विषय की चर्चा तथा चर्चा को गौण करके उपर्युक्त विषय को ही मुख्यता देते हैं। अधिकांश अनुशासन भंग के लिए कारण उपर्युक्त कथन ही है। जो व्यक्ति बाल सुलभ बच्चों के शोर-शराबे को खराब मानकर डाँटेंगे वे ही व्यक्ति धार्मिक स्थल में, सार्वजनिक स्थल में यहाँ तक कि संसद भवन में असभ्य बर्बर व्यक्तियों के समान व्यवहार करेंगे।

सावद्य वचन रूपी हिंसा

छेदन-भेदन-मारण कर्षण-वाणिज्य-चौर्य वचनादि।

तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते।। (97)

All speech which makes another engage in piercing cutting, beating, ploughing, trading, stealing, etc. is savadya, sinful as it leads to destruction of life etc.

व्याख्या-भावानुवाद-यहाँ पाप का स्वरूप कथन कर रहे हैं। जिससे प्राणी वध आदि होता है। वह सब सावद्य है अर्थात् पाप स्वरूप है। जिस वचन से प्राणी वध आदि होते हैं वे सब वचन सावद्य वचन हैं। जैसे कि छेद करो, काटो, भेदन करो, विदारण करो, मारो, प्राण से वियोग करो, कृषि करो, वाणिज्य करो, चोरी करो आदि वचन सावद्य वचन हैं। ऐसे वचन से प्राणी वधादि होते हैं इसलिये ऐसे वचन का त्याग करना चाहिए।

अप्रिय (निन्दा) वचन रूपी हिंसा

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक-कलहकरम्।

यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।। (98)

Know all that as Apriya, which causes uneasiness, fear, pain, hostility, grief, quarrel, or anguish of mind to another person.

व्याख्या-भावानुवाद-निम्नोक्त समस्त वाक्य अप्रिय/अनिष्ट तथा हिंसात्मक है। जो वचन अरतिकर अर्थात् द्वेषकारक है तथा भीतिकर अर्थात् भयकारक है और भी जो खेद को करने वाला वैर को करने वाला, शोक को करने वाला, कलह को करने वाला है ये सब वचन अप्रिय वचन हैं। क्योंकि इन वचनों से दूसरे जीवों को ताप पहुँचता है, कष्ट पहुँचता है।

समीक्षा-केवल अविद्यमान को विद्यमान कहना या विद्यमान को अविद्यमान कहना असत्य वचन नहीं है। परन्तु ऐसा सत्य वचन भी असत्य है जिससे कलह आदि होता है। वचन वस्तुतः सत्य या असत्य नहीं होता है परन्तु सत्य भाव या पवित्र भाव से प्रेरित वचन सत्य है और असत्य भाव से या दूषित भाव से कहा गया वचन असत्य है। कुछ लोग कलह आदि करने के भाव से या दूसरों को अपमानित करने के भाव से वचन बोलते हैं और कहते फिरते हैं कि “मैं थोड़े झूठ बोला, जो मैंने देखा या सुना वही बोला।” परन्तु उनका भाव दूषित होने के कारण उनका वचन भी असत्य है। क्योंकि इससे दूसरों को कष्ट पहुँचता है, कलह आदि होते हैं। ऐसा कहने वाले व्यक्ति अवश्य कुटिल, मायाचारी या झगड़ालू होते हैं। इनका काम शकुनि या मंथरा के जैसा होता है। इन्हें लोग कलहप्रिय नारद कह कर पुकारते हैं। महाभारत या रामायण में यथार्थ रूप से कोई मंथरा या शकुनि हो या काल्पनिक पात्र हो परन्तु इनका मनोवैज्ञानिक सद्भाव अवश्य होता है। अभी तो प्रायः परिवार से लेकर समाज और राष्ट्र तक शकुनि एवं मंथरा की ही भरमार है। ऐसे लोग कारण या अकारण से दूसरों को लड़ाकर, ताली बजाकर, बिना बाजे से ही नाचते रहते हैं। दूसरों को बिना लड़ाये इनका भोजन ही नहीं पचता है। अनेक लोग आराधना स्थल में जायेंगे, व्रत, उपवास करेंगे परन्तु कुत्तों के जैसे एक-दूसरे से गुरायेंगे, भौकेंगे या काटेंगे। एक-दूसरे से मिलते ही बाजार हो या रास्ता या धर्मस्थल एक-दूसरे की निन्दा, चुगली करने में नहीं चूकेंगे। परन्तु आचार्यश्री ने इस श्लोक में कहा है जो ऐसे वचन बोलते हैं वे बिना द्रव्य हिंसा किये भी हिंसक ही हैं।

झूठ वचन में हिंसा होती

सर्वस्मिन्नप्यास्मिन्, प्रमत्त योगैक हेतु कथनं यत्।

अनृत वचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।। (99)

Pramatta Yoga, the one (Chief) cause (of Himsa) is present in all these (speeches) here. Therefore Himsa comes in, certainly in falsehood also.

व्याख्या-भावानुवाद-उपर्युक्त समस्त कथन से सिद्ध होता है कि समस्त अनृत वचन में प्रमत्त योग रूप प्राण व्यपरोपणात्मक हिंसा होने से समस्त असत्य वचन में हिंसा का अवतरण होता है।

अप्रमत्त परिणाम में हिंसा नहीं

हेतौ प्रमत्त योगे, निर्दिष्टे सकल वितथ-वचनानाम्।

हेयाऽनुष्ठानादेः अनुवदनं भवति नासत्यम्।। (100)

Pramatta Yoga having been stated to be the cause of all false speech a sermon preaching the renouncement (of vices) and the performance of religious duties, would not be a falsehood, (even it if should be distasteful, or cause mental pain of the listener).

व्याख्या-भावानुवाद-प्रमत्त योग समस्त असत्य वचन के लिए कारण होने से हेय अनुष्ठान हिताहित का कथन करने पर असत्य नहीं होता है। यथा-मार्ग भ्रष्ट शिष्य को गुरु कठोर अनुशासनात्मक वचन बोलते हैं तथापि यह वचन असत्य नहीं है, हिंसात्मक नहीं है क्योंकि इसमें गुरु का भाव रहता है कि शिष्य कुमार्ग से हटकर सुमार्ग पर चले। ऐसी परिस्थिति में गुरु के भाव में प्रमत्त अथवा हिंसात्मक परिणाम न होकर शुभ परिणाम होता है। इसलिए ऐसे हितकर परन्तु कठोर वचन भी अहिंसात्मक वचन ही हैं।

समीक्षा-सामान्यतः हित मित प्रिय वचन को सत्य वचन कहा जाता है। परन्तु गुरु के लिए मित या प्रिय वचन की अनिवार्यता नहीं है। उनके लिए हित वचन की अनिवार्यता है। कहा भी है-

रूसुत वा परो मा वा, विसं वा परियतउ।

मासियव्वा हिया भासा सपक्खगुण करिया।।

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे वह उपदेश को विष रूप

से समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात्।

ब्रुवतोऽनुग्रह बुध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।।

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है। क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है। परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है।

धर्मनाशेः क्रियाध्वंसे सुसिद्धांतार्थं विप्लवे।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने।।

जब जहाँ सत्य धर्म का नाश होता है, यथार्थ क्रिया का विध्वंस होता हो समीचीन सिद्धांत अर्थ का अपलाव/विनाश होता हो उस समय सम्यक् धर्म, क्रिया और सिद्धांत के प्रचार-प्रसार सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना चाहिए। क्योंकि इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे स्व-पर, राष्ट्र, विश्व की सुरक्षा समृद्धि होती है।

व्यर्थ झूठ छोड़ो

भोगोपभोग-साधन-मात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।

ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुंचन्तु।। (101)

Those who are not able to give up such savadya untruth, as is unavoidable in arranging for articles of use, should renounce all the other untruth, for ever.

व्याख्या-भावानुवाद-भोगोपभोग साधन को जुटाने में जो सदोष वचन का त्याग करने में अक्षम हैं वे भी अन्य समस्त झूठ वचन को नित्य त्याग करें। जिस वस्तु का पुरुष एक बार सेवन करता है उसको भोग कहते हैं। यथा भोजन, पानी आदि। जिस वस्तु का पुनः-पुनः सेवन किया जाता है उसे उपभोग कहते हैं। यथा-स्त्री, वस्त्र, अलंकार आदि। ऐसे जो भोगोपभोग के लिए यत्किंचित् झूठ बोलना पड़ता है उसको छोड़कर अनावश्यक अन्य समस्त सावद्य वचन को छोड़ना चाहिए।

अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ

वाङ्मनोगुप्तिर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितं पान भोजनानि पञ्च। (4)

The 5 (meditations for the vow against injury are) :

वाग्गुप्ति Preservation of speech;
 मनोगुप्ति Preservation of mind;
 इर्या Care in walking;
 आदान-निक्षेपण-समिति Care in lifting and laying down things;
 आलोकितपान भोजन Thoroughly seeing to one's food and drink.
 वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, इर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित-
 तपानभोजन ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।
 वचनगुप्ति-वचन को वश में करना।
 मनोगुप्ति-मन को वश में करना।
 इर्यासमिति-चार हाथ जमीन देखकर चलना।
 आदाननिक्षेपणसमिति-भली प्रकार स्थान को देखकर पुस्तक आदि रखना।
 आलोकितपानभोजनसमिति-सूर्य के प्रकाश में अवलोकन करके अन्न-
 पानी ग्रहण करना।

सत्यव्रत की भावनाएँ

क्रोधलोभभीरूत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीची भाषणं च पञ्च। (5)

And five (contemplation or observance for the vow against falsehood) :

क्रोध प्रत्याख्यान Giving up anger;

लोभ Giving up greed;

भीरूत्व Giving up cowardice or fear;

हास्य प्रत्याख्यान Giving up of frivolity;

अनुवीची भाषण Speaking in accordance with scriptural injunctions.

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरूत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीची भाषण ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

क्रोध त्याग, लोभ का त्याग, भीरूत्व का त्याग, हास्य का त्याग और अनुवीची भाषण से पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ जाननी चाहिए। अनुवीची भाषण, अनुलोभ भाषण एकार्थवाची अर्थात् विचारपूर्वक बोलना अनुवीची भाषण है। यहाँ पुण्यास्रव

का प्रकरण होने से अप्रशस्त क्रिया करने वाले पापी के भाषण को अनुवीचि भाषण नहीं कह सकते। क्योंकि विचारपूर्वक भाषण को अनुवीचि भाषण कहते हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः। (26)

The partial transgressions of the second vow सत्याणुव्रत are:

1. मिथ्योपदेश-Preaching false doctrines.
2. रहोभ्याख्यान-Divulging the secret actions of man and woman.
3. कूटलेखक्रिया-Forgery and perjury.
4. न्यासापहार-Unconscientious dealing by means of speech.
5. साकारमन्त्रभेद-Divulging what one guesses by seeing the

behaviour or gestures of others, who are consulting in private.

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्र भेद ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

मिथ्योपदेश-मिथ्या, अन्य प्रवर्तन या यथार्थ क्रियाओं का छिपाना मिथ्योपदेश है। अभ्युदय और निःश्रेयसार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति करा देना या उनके प्रति उलटी बात कहना मिथ्योपदेश कहलाता है।

रहोभ्याख्यान-संवृत (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकांत में किये गये रहस्य (संकेत, बातचीत आदि) का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है ऐसा जानना चाहिये।

कूटलेखक्रिया-परप्रयोग से अनुक्त पद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया है। किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि 'उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है' इस प्रकार वंचन के निमित्त (ठगने के लिए) लेख लिखना कूटलेखक्रिया है।

न्यासापहार-हिरण्य आदि निक्षेप में अल्पसंख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है। सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा भूल से अल्पशः (कम) माँगने पर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसका कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है।

साकारमन्त्रभेद-प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है। प्रयोजन, प्रकरण, अंगविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्षावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

कटु वचन न बोले

कुण्डधान स्थाविर के पूर्वजन्म के पापकर्म के कारण, प्रव्रजित होने के समय से लेकर सदा उनके पीछे-पीछे एक स्त्री दिखाई देती थी। उसे कुण्डधान स्थाविर नहीं देखते थे, किन्तु शेष सब लोग देखकर निंदा करते थे। एक दिन कोसल नरेश प्रसेनजित इसकी परीक्षा करने के लिए जेतवन आया और बहुत परीक्षा करके स्थाविर को निर्दोष पाकर उन्हें प्रतिदिन अपने यहाँ भोजन करने के लिए निमंत्रित करके चला गया। जब इन बातों को भिक्षुओं ने सुना, तब कुण्डधान स्थाविर और राजा दोनों को भला-बुरा कहने लगे। कुण्डधान स्थाविर ने भिक्षुओं की बात सुनकर उल्टे उन्हीं को भला-बुरा कहा। तब यह बात भिक्षुओं ने भगवान् से कही। भगवान् ने कुण्डधान स्थाविर को बुलाकर सारी बातें पूछी-भिक्षु! तू पूर्वजन्म की अपनी बुरी दृष्टि के कारण इस निंदा को प्राप्त हुआ और इस समय भी भिक्षुओं को बुरा-भला कह रहा है। तुझे उचित है कि भिक्षुओं द्वारा निंदा किये जाने पर भी चुप रहो। ऐसा करते हुए निर्वाण को पा लेंगे। कहकर उपदेश देते हुए इन गाथाओं से कहा-

मावोय करूसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं।

दुक्खा हि सारम्भ-कथा परिदण्डा कुस्सेय्यु तं।। (5) (धम्मपद 95)

सचे नैरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा।

एय पत्तोसि निव्वान सारम्भो ते न तिश्रति।। (6)

कटु वचन न बोलो पर (दूसरे भी वैसे ही) तुझे बोलेंगे। प्रतिवाद दुःखदायक होता है, उसके बदले में तुझे दण्ड मिलेगा।

यदि तू अपने को टूटे काँसे की भाँति निःशब्द कर लोगे, तो तूने निर्वाण पा लिया, तेरे लिए प्रतिवाद नहीं।

**हितकर को करना दुष्कर है
(संघ में फूट डालने की कथा)**

भगवान् के वेणुवन में विहार करते समय एक दिन देवदत्त ने आनंद स्थाविर

को भिक्षाटन करते हुए देखकर उनसे संघ भेद करने के अपने अभिप्राय को कहा। स्थविर ने जाकर भगवान् को सुनाया-“भंते! आज मेरे भिक्षाटन करते समय देवदत्त ने कहा-आनंद! आज से लेकर मैं भगवान् और भिक्षु-संघ से अलग ही उपोसथ तथा सांघिक कर्म करूँगा। भंते! देवदत्त आज संघ में फूट डालेगा और उपोसथ तथा सांघिक-कर्म करेगा।” ऐसा कहने पर भगवान् ने-“आनन्द अपना अहितकर कर्म सुकर होता है किन्तु हितकर ही दुष्कर होता है।” कहकर इस गाथा को कहा-

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।

यं वे हितश्च साधूञ्च तं वे परमदुष्करं॥ (7)

बुरी बातों का करना बड़ा आसान है जिनसे अपना ही अहित होता है, (किन्तु) उसे करना बड़ा दुष्कर है जो अच्छा और हितकर है।

शासन की निन्दा घातक है

श्रावस्ती की एक उपासिका काल स्थविर को पुत्र की भाँति मानती थी और सदा उनका आदर-सत्कार करने को तत्पर रहती थी। काल स्थविर यह सोचकर उसे भगवान् के पास उपदेश सुनने नहीं जाने देते थे कि वह भगवान् के उपदेश को सुनकर उन्हें पूर्ववत् नहीं मानेगी। पड़ोसियों द्वारा भगवान् के उपदेश की प्रशंसा को सुनकर उपासिका से नहीं रह गया। वह उपदेश के दिन भगवान् के पास गई और उपदेश सुनने लगी। जब काल स्थविर को ज्ञात हुआ, तब वे जेतवन गए और उपासिका को उपदेश सुनते हुए देखकर भगवान् से कहे “भंते! यह मूर्खा है सूक्ष्म धर्मोपदेश नहीं जानती है, इसे गंभीर धर्मोपदेशक न देकर दान या शील संबंधी उपदेश दीजिये।”

शास्ता ने काल स्थविर के विचारों को जान-“दुष्प्रज्ञ तू अपनी बुरी धारणा के कारण बुद्धों के शासन की निन्दा करता है, अपने ही घात के लिए प्रयत्न करता है।” कहकर इस गाथा को कहा-

यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।

पटिक्कोसति दुम्मेघो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।

फलानि कट्टुकस्सेव अत्तघञ्जाय फल्लति॥ (8)

जो धर्मात्मा श्रेष्ठ अर्हत्तों के शासन की अपनी पापमयी मिथ्या धारणा के कारण निन्दा करता है, वह अपनी ही बर्बादी करता है जैसे बाँस का फूल बाँस को ही नष्ट

कर देता है।

वाक् असंयम का फल

‘मगध देश में फुल्लोत्पल नाम एक सरोवर है। वहाँ बहुत काल से संकट और विकट नामक दो हंस रहा करते थे उन दोनों का मित्र एक कम्बुग्रीव नाम कछुआ रहता था। फिर एक दिन धीवरों ने वहाँ आकर कहा कि आज हम यहाँ रहकर प्रातःकाल मछली कछुआ आदि मारेगे यह सुनकर कछुआ हंसों से कहने लगा-मित्रों! धीवरों की यह बात मैंने सुनी। अब मुझे क्या करना उचित है? हंसों ने कहा-समझ लो। फिर प्रातःकाल जो उचित हो सो करना। कछुआ बोला-ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं यहाँ पर भय देख चुका हूँ।’ (हितोपदेश पृ. 215 से)

वे दोनों बोले-‘यह कथा कैसे है?’ कछुआ कहने लगा-‘पहले इसी सरोवर पर जब ऐसे ही धीवर आये थे तब तीन मछलियों ने विचार किया और उनमें अनागत विधाता नाम एक मच्छ था, उसने विचार किया-मैं तो दूसरे सरोवर को जाता हूँ।’ इस प्रकार कहकर वह दूसरे सरोवर को चला गया। फिर दूसरे प्रत्युत्पन्नमति नाम मच्छ ने कहा-‘होने वाले काम में निश्चय न होने से मैं कहाँ जाऊँ? इसलिए काम आ पड़ने पर जैसा होगा वैसा करूँगा। जो उत्पन्न हुई आपत्ति का उपाय करता है वह बुद्धिमान है, जैसे कि बनिये की स्त्री ने प्रत्यक्ष में जार को छुपा लिया।’

यद्भवविष्य पूछने लगा-‘यह कथा कैसी है?’ प्रत्युत्पन्नमति ने कहा-‘किसी समय विक्रमपुर में समुद्रदत्त नामक एक बनिया रहता था। उसकी रत्नप्रभा नाम स्त्री अपने सेवक के संग सदा व्यभिचार किया करती थी। पीछे एक दिन उस रत्नप्रभा को उस सेवक का मुख चुंबन करते हुए समुद्रदत्त ने देख लिया। फिर वह व्यभिचारिणी शीघ्र अपने पति के पास जाकर बोली-स्वामी! इस सेवक को बड़ा सुख है, क्योंकि यह चोरी करके कपूर खाया करता है, यह मैंने इसका मुख सूँघकर जान लिया। यह सुनकर सेवक ने क्रोध कर कहा-हे स्वामी! जिस स्वामी की ऐसी स्त्री है वहाँ सेवक कैसे टिक सकता है कि जहाँ क्षण-क्षण में घरवाली सेवक का मुख सूँघती है?’ फिर वह उठकर जाने लगा, तब बनिये ने बड़ी कोशिश से समझाकर उसे रख लिया। इसलिए मैं कहता हूँ-“आपत्ति के उत्पन्न होने पर आदि।”

‘यद्भाववि न तद्भाणि भावि चेन्न तदन्यथा।

इति चिन्ताविषन्धोऽयमगदः किं न पीयते?’

फिर यद्भविष्य ने कहा-‘जो होनहार नहीं है वह कभी नहीं होगा और जो होनहार है उससे उल्टा कभी न होगा अर्थात् होनहार अवश्य होगा यह चिंतारूपी विष का नाश करने वाली औषध क्यों नहीं पीते हो?’

फिर प्रातःकाल जाल से बँधकर प्रत्युत्पन्नमति अपने को मरे के समान दिखला कर बैठ रहा। फिर जाल से बाहर निकाला हुआ अपनी शक्ति के अनुसार उछल कर गहरे पानी में घुस गया और यद्भविष्य को धीवरों ने पकड़ लिया और मार डाला। इसलिए मैं कहता हूँ, “अनागतविधाता आदि। सो जिस प्रकार मैं दूसरे सरोवर को पहुँच जाऊँ वैसे करो।” दोनों हंस बोले-‘दूसरे सरोवर के जाने में तुम्हारी कुशल है। परन्तु पटपड़ में तुम्हारे जाने का कौनसा उपाय है?’ कछुआ बोला-‘जिस प्रकार मैं तुम्हारे साथ आकाश मार्ग से जाऊँ वैसे करो।’ हंसों ने कहा-‘उपाय कैसे हो सकता है?’ कछुए ने कहा-‘तुम दोनों एक काठ के टुकड़े को चोंच से पकड़ लो और मैं मुख से पकड़कर चलूँगा और तुम्हारे पंखों के बल से मैं सुख से पहुँच भी जाऊँगा।’

हंस बोले-यह उपाय तो हो सकता है, परन्तु-

उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत्।

पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः।।

पंडित को उपाय सोचना चाहिए साथ-साथ और विपत्ति का भी विचार करना चाहिए। जैसे मूर्ख बगुले के देखते-देखते नेवले सब बच्चे खा गये।

कछुआ पूछने लगा-‘यह कथा कैसी है?’ वे दोनों कहने लगे-‘उत्तर दिशा में गृधकूटक नाम पर्वत पर एक बड़ा पीपल का पेड़ है। उस पर बहुत से बगले रहते थे। उस वृक्ष के नीचे बिल में एक साँप बगुलों के छोटे-छोटे बच्चों को खा लिया करता था। फिर शोक से व्याकुल बगुलों के विलाप को सुनकर किसी बगुले ने कहा-ऐसा करो तुम मछलियों को लेकर नेवले के बिल से साँप के बिल तक लगातार फैला दो। फिर उनको खाने के लोभी नेवले वहाँ आकर साँप को देखेंगे और अपने स्वभाव वैर से उसे मार डालेंगे। ऐसा करने पर वैसा ही हुआ। पीछे उस वृक्ष के ऊपर नेवलों ने बगुलों के बच्चों को चहचहाट सुना। फिर उन्होंने पेड़ पर चढ़कर बगुलों के बच्चे खा लिए। इसलिए हम दोनों कहते हैं कि उपाय को सोचना चाहिए इत्यादि और हम दोनों से ले जाते हुए तुमको देखकर लोक कुछ कहेंगे ही। वह सुनकर जो तुम उत्तर दोगे तो तुम मरोगे। इसलिए चाहे जो कुछ भी हो, पर यहाँ ही रहो।’ कछुआ बोला-‘क्या मैं

मूर्ख हूँ? मैं उत्तर नहीं दूँगा। कुछ न बोलूँगा और वैसा करने पर कछुए को वैसा देखकर सब ग्वाले पीछे दौड़े और कहने लगे कोई कहता था-जो यह कछुआ गिर पड़े तो यहाँ ही पकाकर खा लेना चाहिए। कोई कहता था यहाँ ही इसे भूनकर खा लें। कोई कहता था कि घर ले चलकर खाना चाहिए। उन सभी का वचन सुनकर वह कछुआ क्रोध युक्त होकर पहले उपदेश को भूलकर बोला-तुम सभी को धूल फाँकनी चाहिए।' यह कहते ही गिर पड़ा और उन्होंने मार डाला। (हितोपदेश पृ. 215 से 220)

झूठ बोलने का फल

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय बोधिसत्व त्रयोत्रिंश-भवन में एक देवपुत्र हुए। उस समय वाराणसी में महोत्सव था। बहुत से नाग, गरूड़ और भुम्मट्टक देवताओं ने आकर उत्सव देखा। त्रयोत्रिंश भवन से भी चारों देवपुत्र कक्कार नाम के दिव्य पुष्पों से बने गजरे पहन उत्सव देखने आये। बारह योजन का नगर उन फूलों की सुगंध से महक गया। मनुष्य सोचते थे-इन पुष्पों को किसने पहना है? उन देवपुत्रों ने जब देखा कि, लोग हमें खोज रहे हैं तो वे राजाङ्गण में ऊपर उठ महान् देवता-प्रताप से आकाश में स्थित हुए। जनता इकट्ठी हुई। राजा, सेट्टी तथा उपराज आदि भी आ पहुँचे लोगों ने पूछा-“स्वामी! किस देवलोक से आना हुआ?”

“त्रयस्तिंश देवलोक से आये है।”

“किस कार्य से आए हैं?”

“उत्सव देखने के लिए।”

“इन फूलों का क्या नाम है?”

“यह दिव्य कक्कारू पुष्प हैं।”

“स्वामी! आप दिव्य लोक में दूसरे पहन लें। यह हमें दे दें।” “यह दिव्य-पुष्प बड़े प्रताप वाले हैं। देवताओं के ही योग्य हैं। मनुष्य लोक में रहने वाले खराब, मूर्ख, तुच्छ विचार वाले, दुश्चरित्र लोगों के योग्य नहीं, लेकिन जिन लोगों में यह गुण हो उनके योग्य है।”

इतना कह, उनमें जो ज्येष्ठ, देवपुत्र था, उसने यह पहली गाथा कही-
कायेन यो नवाहरे वाचाय न गुसाभणे,

यसो लद्धा न मज्जेय्य सवे कक्कारूमरहति।।

जो काय से किसी की कोई चीज हरण न करे, वाणी से झूठ न बोले तथा

ऐश्वर्य मिलने पर प्रमादी न हो, वही कक्कारू के योग्य है।

इसलिए जो इन गुणों से युक्त हो, माँगे, दे देंगे। यह सुन पुरोहित ने सोचा, यद्यपि मुझमें इन गुणों में से एक भी गुण नहीं है, तो भी झूठ बोलकर ये फूल ले पहनूँ। इससे जनता मुझे इन गुणों से युक्त समझेगी। मैं इन गुणों से युक्त हूँ। कह उसने वे पुष्प मँगवा कर पहने। तब उसने दूसरे देवपुत्र से याचना की।

धम्मेन वित्रमेसेय्य न निकल्या, धनं हरे,

भोगे लद्धा न मज्जेय्य स वे कक्कारूमरहति।।

जो धर्म से धन खोजे, ठगी से धन पैदा न करे और भोग्य वस्तुओं के मिलने पर प्रमादी न बने, वही कक्कारू पाने के योग्य है।

पुरोहित ने 'मैं इन गुणों से युक्त हूँ।' कह मँगवा, पहनकर, तीसरे देवपुत्र से याचना की। वह तीसरी गाथा बोला-

यस्स चित्रं अहालिद्धं सद्धा च अविरागिनी,

एको सातुं न भुञ्जेय्य सवे कक्कारूमरहति।।

जिनका चित्त हल्दी की तरह नहीं अर्थात् स्थिर प्रेम वाला है और जिसकी श्रद्धा दृढ़ है और जो किसी स्वादिष्ट वस्तु को अकेला नहीं खाता वही कक्कारू के योग्य है।

पुरोहित ने 'मैं इन गुणों से युक्त हूँ।' कह उन फूलों को मँगवा, पहनकर, चौथे देवपुत्र से याचना की। उसने चौथी गाथा कही-

सम्मुखा वा तिरोक्खा वा यो सन्ते न परिभासिति।

यथावादी तथाकारी सवे कक्कारूमरहति।।

जो न सामने और न अनुपस्थिति में ही संत जनों की हँसी उड़ाता है, जो जैसा कहता है वैसा ही करता है वह कक्कारू के योग्य है।

पुरोहित ने 'मैं इन गुणों से युक्त हूँ।' कह उन्हें भी मँगवाकर पहना। चारों देवपुत्र चारों गजरे पुरोहित को ही देकर देवलोक गए। उनके चले जाने पर पुरोहित के सिर में बड़ा दर्द हुआ। ऐसा लगता था जैसे तेज धार से काटा जाता हो वा लोहे के पट्टे से रगड़ा जाता हो। वह दुःख से पीड़ित हो इधर-उधर लौटता हुआ जोर से चिल्लाया। क्या बात है? पूछने पर बोला-

मैंने अपने में जो गुण नहीं है उनके बारे में झूठ ही है, कहकर वह देवपुत्रों से

ये पुष्प माँगें। इन्हें सिर पर से ले जाओ।

उन्हें निकालने का प्रयत्न करने पर न निकाल सके। लोहे से जकड़े जैसे हो गये। उसे उठाकर घर ले गये। उसके वहाँ चिल्लाते हुए सात दिन बीत गये। राजा ने अमात्यों को बुलाकर पूछा-‘दुश्चरित्र ब्राह्मण मर जाएगा, क्या करें?’

‘‘देव ! फिर उत्सव कराये। देवपुत्र फिर आयेंगे।’’

राजा ने फिर उत्सव कराया। देवपुत्र फिर आये और सारे नगर को फूलों की सुगंधि से महकाकर उसी तरह राजाङ्गण में स्थित हुए।

जनता ने उस दुष्ट ब्राह्मण को ला देवताओं के सामने पीठ के बल लिटा दिया। उसने देवपुत्रों से याचना की- ‘‘स्वामी मुझे जीवन दान दें। वे देवपुत्र बोले-ये फूल तुझ दुष्ट, दुश्शील, पाजी के योग्य नहीं है। तूने सोचा इन्हें ठगूँगा। तुझे अपने झूठ बोलने का फल मिला।’’ इस प्रकार देवपुत्र जनता के बीच में उसकी निंदा कर, सिर से फूलों का गजरा उतार जनता को उपदेश दे, अपने स्थान पर चले गए। (जातक-III पृ.न. 254)

सत्य का व्यापक स्वरूप

प्रथम संवरद्वार अहिंसा के विशद विवेचन के अनन्तर द्वितीय संवरद्वार सत्य का निरूपण किया जा रहा है। अहिंसा की समीचीन एवं परिपूर्ण साधना के लिए असत्य से विरत होकर सत्य की समाराधना आवश्यक है। सत्य की समाराधना के बिना अहिंसा की आराधना नहीं हो सकती। वस्तुतः सत्य अहिंसा को पूर्णता प्रदान करता है। वह अहिंसा को अलंकृत करता है। अतएव अहिंसा के पश्चात् सत्य का निरूपण किया जाता है।

श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा-हे जम्बू ! द्वितीय संवर सत्य वचन है। सत्य शुद्ध-निर्दोष, शुचि-पवित्र, शिव-समस्त प्रकार के उपद्रवों से रहित, सुजात-प्रशस्त-विचारों से उत्पन्न होने के कारण सुभाषित-समीचीन रूप से भाषित-कथित होता है। यह उत्तम व्रतरूप है और सम्यक् विचारपूर्वक कहा गया है। इसे ज्ञानी जनों ने कल्याण के साधन के रूप में देखा है, अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि में सत्य कल्याण का कारण है। यह सुप्रतिष्ठित है-सुस्थिर कीर्ति वाला है, समीचीन रूप में संयम युक्त वाणी से कहा गया है। सत्य सुरवरो-उत्तम कोटि के देवों, नरवृषभों-श्रेष्ठ मानवों, अतिशय बलधारियों एवं सुविहित जनों द्वारा बहुमत-अतीव मान्य किया गया है। श्रेष्ठ-नैष्ठिक मुनियों का धार्मिक अनुष्ठान है। तप एवं नियम से स्वीकृत किया गया है। सद्गति के

पथ का प्रदर्शक है और यह सत्यव्रत लोक में उत्तम है।

सत्य विद्याधरों की आकाशगामिनी विद्याओं को सिद्ध करने वाला है। स्वर्ग के मार्ग का तथा मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शक है। यथातथ्य अर्थात् मिथ्याभाव से रहित है, ऋजुक-सरल भाव से युक्त है, कुटिलता से रहित है, प्रयोजनवश यथार्थ पदार्थ का ही प्रतिपादक है, सर्व प्रकार से शुद्ध है-असत्य या अर्द्धसत्य की मिलावट से रहित है अर्थात् असत्य का सम्मिश्रण जिसमें नहीं होता वही विशुद्ध सत्य कहलाता है अथवा निर्दोष होता है। इस जीवलोक में समस्त पदार्थों का विसंवाद-रहित-यथार्थ प्ररूपक है। यह यथार्थ होने के कारण मधुर है और मनुष्यों का बहुत-सी विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं में आश्चर्यजनक कार्य करने वाले देवता के समान है, अर्थात् मनुष्यों पर आ पड़े घोर संकट की स्थिति में वह देवता की तरह सहायक बनकर संकट से उबारने वाला है।

किसी महासमुद्र में, जिसमें बैठे सैनिक मूढधी हो गए हों, दिशाभ्रम से ग्रस्त हो जाने के कारण जिनकी बुद्धि काम न कर रही हो, उनके जहाज भी सत्य के प्रभाव से ठहर जाते हैं, डूबते नहीं हैं। सत्य का ऐसा प्रभाव है कि भँवरों से युक्त जल के प्रवाह में भी मनुष्य बहते नहीं हैं, मरते नहीं हैं, किन्तु थाह पा लेते हैं।

सत्य के प्रभाव से जलती हुई अग्नि के भयंकर घेरे में पड़े हुए मानव जलते नहीं हैं।

सत्यनिष्ठ सरल हृदय वाले सत्य के प्रभाव से तपे-उबलते हुए तेल, रांगे, लोहे और सीसे को छू लेते हैं, हथेली पर रख लेते हैं, फिर भी जलते नहीं हैं।

मनुष्य पर्वत के शिखर से गिरा दिये जाते हैं-नीचे फैंक दिये जाते हैं, फिर भी (सत्य के प्रभाव से) मरते नहीं हैं।

सत्य के (सुरक्षा-कवच को) धारण करने वाले मनुष्य चारों ओर से तलवारों के घेरे में-तलवार-धारकों के पिंजरे में पड़े हुए भी अक्षत-शरीर संग्राम से (सकुशल) बाहर निकल आते हैं।

सत्यवादी मानव वध, बंधन सबल प्रहार और घोर वैर-विरोधियों के बीच में से मुक्त हो जाते हैं-बच निकलते हैं।

सत्यवादी शत्रुओं के घेरे में से बिना किसी क्षति के सकुशल बाहर आ जाते हैं।

सत्य वचन में अनुरागी जनों का देवता भी सान्निध्य करते हैं-उसके साथ रहकर उनकी सेवा-सहायता करते हैं।

तीर्थकरों द्वारा भाषित सत्य भगवान् दस प्रकार का है। इसे चौदह पूर्वों के ज्ञाता महामुनियों ने प्राभृतों (पूर्वगत विभागों) से जाना है एवं महर्षियों को सिद्धांत रूप में दिया गया है-साधुओं के द्वितीय महाव्रत में सिद्धांत द्वारा स्वीकार किया गया है। देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने इसका अर्थ कहा है अथवा देवेन्द्रों एवं नरेन्द्रों को इसका अर्थ तत्त्व रूप से कहा गया है। यह सत्य वैमानिक देवों द्वारा समर्थित एवं आसेवित है। महान् प्रयोजन वाला है। यह मंत्र औषधि और विद्याओं की सिद्धि का कारण है-सत्य के प्रभाव से मंत्र और विद्याओं की सिद्धि होती है। यह चारण (विद्याचारण, जंघाचारण) आदि मुनिगणों की विद्याओं को सिद्ध करने वाला है। मानवगणों द्वारा वंदनीय है-स्तवनीय है, अर्थात् स्वयं सत्य तथा सत्यनिष्ठ पुरुष मनुष्यों की प्रशंसा-स्तुति का पात्र बनता है। इतना ही नहीं, सत्यसेवी मनुष्य अमरगणों-देवसमूहों के लिए भी अर्चनीय तथा असुरकुमार आदि भवनपति देवों द्वारा भी पूजनीय होता है। अनेक प्रकार के पाषंडी-व्रतधारी इसे धारण करते हैं।

इस प्रकार की महिमा से मण्डित यह सत्य लोक में सारभूत है। महासागर से भी गंभीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर-अटल है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य-आह्लादक है। सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्ति से देदीप्यमान है। शरत्-काल के आकाश तल से भी अधिक विमल है। गंधमादन (गजदंत गिरिविशेष) से भी अधिक सुरभि सम्पन्न है।

लोक में जो भी समस्त मंत्र है, वशीकरण आदि योग हैं, जप हैं, प्रज्ञप्ति प्रभृति विद्याएँ हैं, दस प्रकार के जृंभक देव हैं, धनुष आदि अस्त्र हैं, जो भी सत्य-तलवार आदि, शस्त्र अथवा शास्त्र है, कलाएँ हैं, आगम हैं, वे सभी सत्य में प्रतिष्ठित हैं-सत्य के ही आश्रित हैं।

किन्तु जो सत्य संयम में बाधक हो-रुकावट पैदा करता हो, वैसा सत्य तनिक भी नहीं बोलना चाहिए (क्योंकि जो वचन तथ्य होते हुए भी हितकर नहीं, प्रशस्त नहीं, हिंसकारी है, वह सत्य में परिगणित नहीं होता)। जो वचन (तथ्य होते हुए भी) हिंसा रूप पाप से अथवा हिंसा एवं पाप से युक्त हो, जो भेद-फूट उत्पन्न करने वाला हो, जो विकथाकारक हो-स्त्री आदि में संबंधित चारित्रनाशक या अन्य प्रकार से

अनर्थ का हेतु हो, जो निरर्थकवाद या कलहकारक हो अर्थात् जो वचन निरर्थक वाद-विवाद रूप हो और जिससे कलह उत्पन्न हो, जो वचन अनार्य हो-अनाड़ी लोगों के योग्य हो-आर्य पुरुषों के बोलने योग्य न हो अथवा अन्याय युक्त हो, जो अन्य के दोषों को प्रकाशित करने वाला हो, विवाद युक्त हो, दूसरों की विडम्बना-फजीहत करने वाला हो, जो विवेकशून्य जोश और धृष्टता से परिपूर्ण हो, जो निर्लज्जता से भरा हो, जो लोक-जनसाधारण या सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय हो, ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए।

जो घटना भलीभाँति स्वयं न देखी हो, जो बात सम्यक् प्रकार से सुनी न हो, जिसे ठीक तरह-यथार्थ रूप में जान नहीं लिया हो, उसे या उसके विषय में बोलना नहीं चाहिए।

इसी प्रकार अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा भी नहीं करनी चाहिए, यथा-तू बुद्धिमान नहीं है-बुद्धिहीन है, तू धन्य-धनवान् नहीं-दरिद्र है, तू धर्मप्रिय नहीं है, तू कुलीन नहीं है, तू दानपति-दानेश्वरी नहीं है, तू शूरवीर नहीं है, तू सुन्दर नहीं है, तू भाग्यवान् नहीं है, तू पंडित नहीं है, तू बहुश्रुत-अनेक शास्त्रों का ज्ञाता नहीं है, तू तपस्वी भी नहीं है, तुझमें परलोक संबंधी निश्चय करने की बुद्धि भी नहीं है, आदि। अथवा जो वचन सदा-सर्वदा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप (सौंदर्य), व्याधि (कोढ़ आदि बीमारी), रोग (ज्वरादि) से संबंधित हो, जो पीड़ाकारी या निन्दनीय होने के कारण वर्जनीय हो-न बोलने योग्य हो, अथवा जो वचन द्रोहकारक अथवा द्रव्य-भाव से आदर एवं उपचार से रहित हो-शिष्टाचार के अनुकूल न हो अथवा उपकार का उल्लंघन करने वाला हो, इस प्रकार का तथ्य-सद्भूतार्थ वचन भी नहीं बोलना चाहिए।

(यदि पूर्वोक्त प्रकार के तथ्य-वास्तविक वचन भी बोलने योग्य नहीं है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि) फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए?

प्रश्न का उत्तर यह है-जो वचन द्रव्यों-त्रिकालवर्ती पुद्गलादि द्रव्यों से, पर्यायों से-नवीनता, पुरातनता आदि क्रमवर्ती अवस्थाओं से तथा गुणों से अर्थात् सहभावी वर्ण आदि विशेषों से युक्त हो अर्थात् द्रव्यों, पर्यायों या गुणों के प्रतिपादक हो तथा कृषि आदि कर्मों से अथवा धरने उठाने आदि क्रियाओं से, अनेक प्रकार की चित्रकला, वास्तुकला आदि शिल्पों से और आगमों अर्थात् सिद्धांतसम्मत अर्थों से युक्त हो और

जो नाम देवदत्त आदि संज्ञापद, आख्यात-त्रिकाल संबंधी 'भवति' आदि क्रियापद, निपात-'वा, च' आदि अव्यय, प्र, परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद-जिनके अंत में तद्धित प्रत्यय लगा हो, जैसे 'नाभेय' आदि पद, समास-अनेक पदों को मिलाकर एक पद बना देना, जैसे 'राजपुरुष' आदि, संधि-समीपता के कारण अनेक पदों का जोड़, जैसे विद्या+आलय=विद्यालय आदि, हेतु-अनुमान का वह अंग जिससे साध्य को जाना जाए, जैसे धूम से अग्नि का किसी विशिष्ट स्थल पर अस्तित्व जाना जाता है, यौगिक-दो आदि के संयोग वाला पद अथवा जिस पद के अवयवार्थ से समुदायार्थ जाना जाए, जैसे 'उपकरीति' आदि, उणादि-उणादिगण के प्रत्यय जिन पदों के अंत में हो, जैसे 'साधु' आदि, क्रियाविधान-क्रिया को सूचित करने वाला पद, जैसे 'पाचक' (पकाने की क्रिया करने वाला) धातु-क्रियावाचक 'भू-हो' आदि, स्वर-'अ, आ' इत्यादि अथवा संगीतशास्त्र संबंधी षड्ज, ऋषभ, गांधार आदि सात स्वर, विभक्ति-प्रथमा आदि, वर्ण-'क, ख' आदि व्यंजनयुक्त अक्षर, इनसे युक्त हो (ऐसा वचन बोलना चाहिए)।

त्रिकाल विषयक सत्य दस प्रकार का होता है। जैसा मुख से कहा जाता है, उसी प्रकार कर्म से अर्थात् लेखन क्रिया से तथा हाथ, पैर, आँख आदि की चेष्टा से, मुँह बनाना आदि आकृति से अथवा जैसा कहा जाए वैसी ही क्रिया करके बतलाने से अर्थात् कथन के अनुसार अमल करने से सत्य होता है।

बारह प्रकार की भाषा होती है। वचन सोलह प्रकार का होता है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् द्वारा अनुज्ञात-आदिष्ट तथा सम्यक् प्रकार से विचारित सत्य-वचन यथावसर पर ही साधु को बोलना चाहिए।

विवेचन-उल्लिखित पाठ में सत्य की महिमा का विस्तारपूर्वक एवं प्रभावशाली शब्दों में वर्णन किया गया है, जो वचन सत्य-तथ्य होने पर भी किसी को पीड़ा उत्पन्न करने वाला अथवा अनर्थकारी होने से सदोष हो, वैसा वचन भी बोलने योग्य नहीं है। यह कथन अनेक उदाहरणों सहित प्रतिपादित किया गया है तथा किस प्रकार का सत्य भाषण करने योग्य है, इसका भी उल्लेख किया गया है। सत्य, भाषा और वचन के भेद भी बतलाए गए हैं।

इस संपूर्ण कथन से साधक के समक्ष सत्य का सुस्पष्ट चित्र उभर आता है। सत्य की महिमा का प्रतिपादन करने वाला अंश सरल-सुबोध है। उस पर अधिक

विवेचन की आवश्यकता नहीं है। तथापि संक्षेप में वह महिमा इस प्रकार है-

सत्य की महिमा-सत्य सभी के लिए हितकर है, व्रतरूप है, सर्वज्ञों द्वारा दृष्ट और परीक्षित है, अतएव उसके विषय में किंचित् भी शंका के लिए स्थान नहीं है। उत्तम देवों तथा चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्यों, सत्पुरुषों और महापुरुषों द्वारा स्वीकृत है। सत्यसेवी ही सच्चा तपस्वी और नियम-निष्ठ हो सकता है। वह स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग है। यथार्थता-वास्तविकता के ही साथ उसका संबंध है। जब मनुष्य घोर संकट में पड़ जाता है तब सत्य देवता की तरह उसकी रक्षा करता है। सत्य के लोकोत्तर प्रभाव से महासागर में पड़ा प्राणी सकुशल किनारा पा लेता है। सत्य चारों ओर भयंकर धू-धू करती आग की लपटों से बचाने में समर्थ है-सत्यनिष्ठ को आग जला नहीं सकती। उबलता हुआ लोहा, रांगा आदि सरलात्मा सत्यसेवी की हथेली पर रख दिया जाए तो उसका बाल बांका नहीं होता। उसे ऊँचे गिरिशिखर से पटक दिया जाए तो भी वह सुरक्षित रहता है। विकराल संग्राम में, तलवारों के घेरे से वह सकुशल बाहर आ जाता है। अभिप्राय यह है कि सत्य की समग्र-भाव से आराधना करने वाले भीषण से भीषण विपत्ति से आश्चर्यजनक रूप से सहज ही छुटकारा पा जाते हैं।

सत्य के प्रभाव से विद्याएँ और मंत्र सिद्ध होते हैं। श्रमणगण, चारणगण, सुर और असुर-सभी के लिए वह अर्चनीय है, पूजनीय है, आराधनीय है। सत्य महासागर से भी अधिक गंभीर है, क्योंकि वह सर्वथा क्षोभरहित है। अटलता के लिहाज से वह मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। आह्लादजनक और संतापहारक होने से चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है, क्योंकि वह मूर्त-अमूर्त आदि समस्त पदार्थों को अविकल रूप से प्रकाशित करता है। शरत्कालीन व्योम से भी अधिक निर्मल है, क्योंकि वह कालुष्य रहित है और गंधमादन पर्वतों से भी अधिक सौरभमय है।

ऐसा सत्य भी वर्जनीय-जो वचन तथ्य-वास्तविक होने पर भी किसी प्रकार अनर्थकर या हानिकर हो, वह वर्जनीय है। यथा-

1. जो संयम का विघातक हो, 2. जिमसें हिंसा या पाप का मिश्रण हो, 3. जो फूट डालने वाला, वृथा बकवास हो, आर्यजनोचित न हो, 4. अन्याय का पोषक हो, मिथ्यादोषारोपणरूप हो, 5. जो विवाद या विडम्बनाजनक हो, धृष्टतापूर्ण हो, 6. जो

लोकनिन्दनीय हो, 7. जो भलीभाँति देखा, सुना या जाना हुआ न हो, 8. जो आत्मप्रशंसा और परनिंदारूप हो, 9. जो द्रोहयुक्त, द्विधापूर्ण हो, 10. जिससे शिष्टाचार का उल्लंघन होता हो, 11. जिससे किसी को पीड़ा उत्पन्न हो।

ऐसे और इसी कोटि के अन्य वचन तथ्य होने पर भी बोलने योग्य नहीं है।

सत्य के दस प्रकार—मूल पाठ में निर्दिष्ट दस प्रकार के सत्य का स्वरूप इस प्रकार है—

जणवय-सम्मय-ठवणा नामे-रूवे पडुच्चसच्चे य।

ववहार-भाव-जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य।।

1. **जनपदसत्य**—जिस देश-प्रदेश में जिस वस्तु के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता हो, वहाँ उस वस्तु के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे माता को 'आई' कहना, नाई को 'राजा' कहना।

2. **सम्मतसत्य**—बहुत लोगों ने जिस शब्द को जिस वस्तु का वाचक मान लिया हो, जैसे 'देवी' शब्द पटरानी का वाचक मान लिया गया है। अतः पटरानी को 'देवी' कहना सम्मतसत्य है।

3. **स्थापनासत्य**—जिसकी मूर्ति हो उसे उसी के नाम से कहना, जैसे-इन्द्रमूर्ति को इन्द्र कहना या शतरंज की गोदों को हाथी, घोड़ा आदि कहना।

4. **नामसत्य**—जिसका जो नाम हो उसे गुण न होने पर भी उस शब्द से कहना, जैसे कुल की वृद्धि न करने वाले को भी 'कुलवर्द्धन' कहना।

5. **रूपसत्य**—साधु के गुण न होने पर भी वेषमात्र से असाधु को साधु कहना।

6. **प्रतीत्यसत्य**—अपेक्षाविशेष से कोई वचन बोलना, जैसे दूसरी उंगली की अपेक्षा से किसी उंगली को छोटी या बड़ी कहना, द्रव्य की अपेक्षा सब पदार्थों को नित्य कहना या पर्याय की अपेक्षा से सबको क्षणिक कहना।

7. **व्यवहारसत्य**—जो वचन लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्य हो, जैसे-रास्ता तो कहीं जाता नहीं, किन्तु कहा जाता है कि यह रास्ता अमुक नगर को जाता है, गाँव आ गया आदि।

8. **भावसत्य**—अनेक गुणों की विद्यमानता होने पर भी किसी प्रधान गुण की विवक्षा करके कहना, जैसे तोते में लाल वर्ण होने पर भी उसे हरा कहना।

9. **योगसत्य**—संयोग के कारण किसी वस्तु को किसी शब्द से कहना, जैसे—

दण्ड धारण करने के कारण किसी को दण्डी कहना।

10. उपमासत्य-समानता के आधार पर किसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे-मुख-चन्द्र आदि।

भाषा के बारह प्रकार-आगमों में भाषा के विविध दृष्टियों से अनेक भेद-प्रभेद प्रतिपादित किए गए हैं। उन्हें विस्तार से समझने के लिए दशवैकालिक तथा प्रज्ञापनासूत्र का भाषापद देखना चाहिए। प्रस्तुत पाठ में बारह प्रकार की भाषाएँ बतलाई गई हैं, वे तत्काल में प्रचलित भाषाएँ हैं, जिनके नाम ये हैं-(1) प्राकृत (2) संस्कृत (3) मागधी (4) पैशाची (5) शौरसेनी और (6) अपभ्रंश। ये छह गद्यमय और छह पद्यमय होने से बारह प्रकार की हैं।

सोलह प्रकार के वचन-टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने सोलह प्रकार के वचन निम्नलिखित गाथा उद्धृत करके गिनाए हैं-

वयणतियं लिंगतियं कालतियं तह परोक्ख पच्चक्खं।

उवणीयाइ चउक्कं अज्झत्थं चव सोलसमं।।

अर्थात् वचनत्रिक, लिंगत्रिक, कालत्रिक, परोक्ष, प्रत्यक्ष, उपनीत आदि चतुष्क और सोलहवाँ अध्यात्मवचन, ये सब मिलकर सोलह वचन हैं।

वचनत्रिक-एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। लिंगत्रिक-स्त्रीलिंग, पुलिंग, नपुंसकलिंग। कालत्रिक-भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यत्काल। प्रत्यक्षवचन-यथा यह पुरुष है। परोक्षवचन-यथा वह मुनिराज।

उपनीतादिचतुष्क-(1) उपनीतवचन अर्थात् प्रशंसा का प्रतिपादक वचन, जैसे यह रूपवान् है। (2) उपनीतवचन-दोष प्रकट करने वाला वचन, जैसे यह दुराचारी है। (3) उपनीतापनीत-प्रशंसा के साथ निन्दावाचक वचन, जैसे यह रूपवान् है किन्तु दुराचारी है। (4) उपनीतोपनीतवचन-निन्दा के साथ प्रशंसा करने वाला वचन, जैसे-यह दुराचारी है किन्तु रूपवान् है।

अध्यात्मवचन-जिस अभिप्राय को कोई छिपाना चाहता है, फिर भी अकस्मात् उस अभिप्राय को प्रकट कर देने वाला वचन।

इस दस प्रकार के सत्य का, बारह प्रकार की भाषा का और सोलह प्रकार के वचनों का संयमी पुरुष को तीर्थकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार, अवसर के अनुकूल प्रयोग करना चाहिए। जिससे किसी को पीड़ा उत्पन्न न हो-जो हिंसा का

कारण न बने।

121-अलीक-असत्य, पिशुन-चुगली, परुष-कठोर, कटु-कटुक और चपल-चंचलता युक्त वचनों से (जो असत्य के रूप हैं) बचाव के लिए तीर्थकर भगवान् ने यह प्रवचन समीचीन रूप से प्रतिपादित किया है। यह भगवत्प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर में शुभ भावना से युक्त है, भविष्य में श्रेयस्कर है, शुद्ध-निर्दोष है, न्यायसंगत है, मुक्ति का सीधा मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है तथा समस्त दुःखों और पापों को पूरी तरह उपशांत-नष्ट करने वाला है।

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ—दूसरे व्रत अर्थात् सत्य महाव्रत की ये-आगे कही जा रही पाँच भावनाएँ हैं, जो असत्य वचन के विरमण की रक्षा के लिए हैं अर्थात् इन पाँच भावनाओं का विचारपूर्वक पालन करने से असत्य-विरमणरूप सत्य महाव्रत की पूरी तरह रक्षा होती है। इन पाँच भावनाओं में प्रथम अनुवीचिभाषण है। सद्गुरु के निकट सत्यव्रत रूप संवर के अर्थ-आशय को सुनकर एवं उसके शुद्ध परमार्थ-रहस्य को सम्यक् प्रकार से जानकर जल्दी-जल्दी सोच-विचार किए बिना नहीं बोलना चाहिए, अर्थात् कटुक वचन नहीं बोलना चाहिए, शब्द से कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए, चपलतापूर्वक नहीं बोलना चाहिए, विचारे बिना सहसा नहीं बोलना चाहिए, पर को पीड़ा पैदा करने वाला एवं सावद्य-पापयुक्त वचन भी नहीं बोलना चाहिए। किन्तु सत्य, हितकारी, परिमित, वाहक-विवक्षित अर्थ का बोध कराने वाला, शुद्ध-निर्दोष, संगत-युक्तियुक्त एवं पूर्वापर-अविरोधी, स्पष्ट तथा पहले बुद्धि द्वारा सम्यक् प्रकार से विचारित ही साधु को अवसर के अनुसार बोलना चाहिए।

इस प्रकार अनुवीचिसमिति के-निरवद्य वचन बोलने की यतना के योग से भावित अन्तरात्मा-प्राणी हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख पर संयम रखने वाला, शूर तथा सत्य और आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

दूसरी भावना क्रोधनिग्रह—क्षमाशीलता है। (सत्य के आराधक को) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य रौद्रभाव वाला हो जाता है और (ऐसी अवस्था में असत्य भाषण कर सकता है (या करता है)। वह पिशुन-चुगली के वचन बोलता है, कठोर वचन बोलता है। मिथ्या, पिशुन और कठोर-तीनों प्रकार के वचन बोलता है। कलह करता है, वैर-विरोध करता है, विकथा करता है तथा कलह-वैर-

विकथा-ये तीनों करता है। वह सत्य का घात करता है, शील-सदाचार का घात करता है, विनय का विघात करता है और सत्य, शील तथा विनय-इन तीनों का घात करता है। असत्यवादी लोक में द्वेष का पात्र बनता है, दोषों का घर बन जाता है और अनादर का पात्र बनता है तथा द्वेष, दोष और अनादर-इन तीनों का पात्र बनता है।

क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हृदय मनुष्य ऐसे और इसी प्रकार के अन्य सावद्य वचन बोलता है। अतएव क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार क्षमा से भावित अन्तरात्मा-अन्तःकरण वाला हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख के संयम से युक्त, शूर साधु सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है।

तीसरी भावना-निर्लोभता-तीसरी भावना लोभनिग्रह है। लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए।

(1) लोभी मनुष्य लोलुप होकर क्षेत्र-खेत-खुली भूमि और वास्तु-मकान आदि के लिए असत्य भाषण करता है, (2) लोभी-लालची मनुष्य कीर्ति और लोभ-धन प्राप्ति के लिए असत्य भाषण करता है, (3) लोभी-लालची मनुष्य ऋद्धि-वैभव और सुख के लिए असत्य भाषण करता है, (4) लोभी-लालची भोजन के लिए, पानी (पेय) के लिए असत्य भाषण करता है, (5) लोभी-लालची मनुष्य पीठ-पीढ़ा और फलक-पाट प्राप्त करने के लिए असत्य भाषण करता है, (6) लोभी-लालची मनुष्य शय्या और संस्तारक-छोटे बिछौने के लिए असत्य भाषण करता है, (7) लोभी-लालची मनुष्य वस्त्र और पात्र के लिए असत्य भाषण करता है, (8) लोभी-लालची मनुष्य कंबल और पादपेंछन के लिए असत्य भाषण करता है, (9) लोभी-लालची मनुष्य शिष्य और शिष्या के लिए असत्य भाषण करता है, (10) लोभी-लालची मनुष्य इस प्रकार के सैकड़ों कारणों-प्रयोजनों से असत्य भाषण करता है।

लोभी व्यक्ति मिथ्या भाषण करता है, अर्थात् लोभ भी असत्य भाषण का एक कारण है, अतएव (सत्य के आराधक को) लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मुक्ति-निर्लोभता से भावित अन्तःकरण वाला साधु हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख से संयत, शूर और सत्य तथा आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

चौथी भावना-निर्भयता-चौथी भावना निर्भयता-भय का अभाव है। भयभीत नहीं होना चाहिए। भीरु मनुष्य को अनेक भय शीघ्र ही जकड़ लेते हैं-भयग्रस्त बना देते हैं। भीरु मनुष्य अद्वितीय-असहाय रहता है। भयभीत मनुष्य भूत-प्रेतों द्वारा

आक्रांत कर लिया जाता है। भीरु मनुष्य (स्वयं तो डरता ही है) दूसरों को भी डरा देता है। भयभीत हुआ पुरुष निश्चय ही तप और संयम को भी छोड़ बैठता है। भीरु साधक भार का निस्तार नहीं कर सकता अर्थात् स्वीकृत कार्यभार अथवा संयमभार का भलीभाँति निर्वाह नहीं कर सकता है। भीरु पुरुष सत्पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग का अनुसरण करने में समर्थ नहीं होता। अतएव (किसी मनुष्य, पशु-पक्षी या देवादि अन्य निमित्त के द्वारा जनित अथवा आत्मा द्वारा जनित) भय से, व्याधि-कुष्ठ आदि से, ज्वर आदि रोगों से, वृद्धावस्था से, मृत्यु से या इसी प्रकार के अन्य इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि के भय से डरना नहीं चाहिए। इस प्रकार विचार करके धैर्य-चित्त की स्थिरता अथवा निर्भयता से भावित अन्तःकरण वाला साधु हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख से संयत, शूर एवं सत्य तथा आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

पाँचवीं भावना-हास्य-त्याग-पाँचवीं भावना परिहासपरिवर्जन है। हास्य का सेवन नहीं करना चाहिए। हँसोड़ व्यक्ति अलीक-दूसरे में विद्यमान गुणों को छिपाने रूप और असत्-अविद्यमान को प्रकाशित करने वाले या अशोभनीय और अशांतिजनक वचनों का प्रयोग करते हैं। परिहास दूसरों के परिभव-अपमान-तिरस्कार का कारण होता है। हँसी में परकीय निन्दा-तिरस्कार ही प्रिय लगता है। हास्य परपीड़ाकारक होता है। हास्य चारित्र का विनाशक, शरीर की आकृति को विकृत करने वाला है और मोक्षमार्ग का भेदन करने वाला है। हास्य अन्योन्य-एक दूसरे का परस्पर में किया हुआ होता है, फिर परस्पर में परदारगमन आदि कुचेष्टा-मर्म का कारण होता है। एक-दूसरे के मर्म-गुप्त चेष्टाओं को प्रकाशित करने वाला बन जाता है, हँसी-हँसी में लोग एक-दूसरे की गुप्त चेष्टाओं को प्रकट करके फजीहत करते हैं। हास्य कंदर्प-हास्यकारी अथवा आभियोगिक-आज्ञाकारी सेवक जैसे देवों में जन्म का कारण होता है। हास्य असुरता एवं क्लिषता उत्पन्न करता है, अर्थात् साधु तप और संयम के प्रभाव से कदाचित् देवगति में उत्पन्न हो तो भी अपने हँसोड़पन के कारण निम्न कोटि के देवों में उत्पन्न होता है। वैमानिक आदि उच्च कोटि के देवों में नहीं उत्पन्न होता। इस कारण हँसी का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मौन से भावित अन्तःकरण वाला साधु हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख से संयत होकर शूर तथा सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है।

विवेचन-उल्लिखित पाँच (122 से 126) सूत्रों में अहिंसा महाव्रत के समान

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाओं का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार हैं- (1) अनुवीचिभाषण (2) क्रोध का त्याग-अक्रोध (3) लोभत्याग या निर्लोभता (4) भयत्याग या निर्भयता और (5) परिहास-परिहार या हँसी-मजाक का त्याग।

वाणी व्यवहार मानव की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता है। पशु-पक्षी भी अपनी-अपनी वाणी से बोलते हैं किन्तु मानव की वाणी की अर्थपरकता या सोद्देश्यता उनकी वाणी में नहीं होती। अतएव व्यक्त वाणी मनुष्य की एक अनमोल विभूति है।

वाणी की यह विभूति मनुष्य को अनायास प्राप्त नहीं होती। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव जिह्वा से सर्वथा वंचित होते हैं। वे बोल ही नहीं सकते। द्वीन्द्रियादि जीव जिह्वा वाले होते हुए भी व्यक्त वाणी नहीं बोल सकते। व्यक्त और सार्थक वाणी मनुष्य को ही प्राप्त है। किन्तु क्या यह वाणी वैभव यों ही प्राप्त हो गया? नहीं, इसे प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी पुण्य राशि खरचनी पड़ी है। विपुल पुण्य की पूँजी के बदले इसकी उपलब्धि हुई है। अतएव मनुष्य की वाणी बहुमूल्य है। धन देकर प्राप्त न की जा सकने के कारण वह अनमोल भी है।

विचारणीय है कि जो वस्तु अनमोल है, जो प्रबलतर पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई है, उसका उपयोग किस प्रकार करना उचित है? यदि कोई मनुष्य अपनी वाणी का प्रयोग पाप के उपार्जन में करता है तो वह निश्चय ही अभागा है, विवेकविहीन है। इस वाणी को सार्थकता और सदुपयोग यही हो सकता है कि इसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति में व्यय किया जाए। यह तभी संभव है जब इसे पापोपार्जन का निमित्त न बनाया जाए।

इसी उद्देश्य से सत्य को महाव्रत के रूप में स्थापित किया गया है और इससे पूर्व सत्य की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि असत्य के पाप से बचकर सत्य भगवान् की आराधना किस प्रकार की जा सकती है? इसी प्रश्न के समाधान के लिए पाँच भावनाओं की प्ररूपणा की गई है। सत्य की आराधना के लिए पूर्ण रूप से असत्य से बचना आवश्यक है और असत्य से बचने के लिए असत्य के कारणों से दूर रहना चाहिए। असत्य के कारणों की विद्यमानता में उससे बचना अत्यंत कठिन है, प्रायः असंभव है। किन्तु जब असत्य का कोई कारण न हो तो उसका अभाव अवश्य हो जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इन भावनाओं में असत्य

के कारण के परिहार का ही प्रतिपादन किया गया है। न होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। असत्य का कारण न होगा तो असत्य भी नहीं होगा।

असत्य के प्रधान कारण पाँच हैं। उनके त्याग की यहाँ प्रेरणा की गई है।

असत्य का एक कारण है-सोच-विचार किये बिना, जल्दबाजी में, जो मन में आए, बोल देना। इस प्रकार बोल देने से अनेकों बार घोर अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। 'अंधे की संतान अंधी होती है' द्रौपदी के इस अविचारित वचन ने कितने भीषण अनर्थ उत्पन्न नहीं किए? स्वयं द्रौपदी को अपमानित होना पड़ा, पांडवों की दुर्दशा हुई और महाभारत जैसा दुर्भाग्यपूर्ण संग्राम हुआ, जिसमें करोड़ों को प्राण गँवाने पड़े। अतएव जिस विषय की जानकारी न हो, जिसके विषय में सम्यक् प्रकार से विचार न कर लिया गया हो, जिसके परिणाम के संबंध में पूरी तरह सावधानी न रखी गई हो, उस विषय में वाणी का प्रयोग करना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो भी बोला जाए, सुविचारित एवं सुज्ञात ही बोला जाए। भलीभाँति विचार करके बोलने वाले को पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता, उसे लांछित नहीं होना पड़ता और उसका सत्यव्रत अखंडित रहता है।

प्रथम भावना का नाम 'अनुवीचिसमिति' कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में इसका अर्थ किया गया है- 'अनुवीचिभाषणम्- निरवद्यानुभाषणम्' अर्थात् निरवद्य भाषा का प्रयोग करना अनुवीचिभाषण कहलाता है। तत्त्वार्थभाष्य में भी सत्यव्रत की प्रथम भावना के लिए 'अनुवीचि' भाषण शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अतएव भलीभाँति विचार कर बोलने के साथ-साथ भाषा संबंधी अन्य दोषों से बचना भी इस भावना के अंतर्गत है।

सत्यव्रत का निरतिचार रूप से पालन करने के लिए क्रोधवृत्ति पर विजय प्राप्त करना भी आवश्यक है। क्रोध ऐसी वृत्ति है जो मानवीय विवेक को विलुप्त कर देती है और कुछ काल के लिए पागल बना देती है। क्रोध का उद्रेक होने पर सत्-असत् का भान नहीं रहता और असत्य बोला जाता है। कहना चाहिए कि क्रोध के अतिशय आवेश में जो बोला जाता है, वह असत्य ही होता है। अतएव सत्य महाव्रत की सुरक्षा के लिए क्रोध प्रत्याख्यान अथवा अक्रोध वृत्ति परमावश्यक है।

तीसरी भावना लोभत्याग या निर्लोभता है। लोभ से होने वाली हानियों का मूल पाठ में ही विस्तार से कथन कर दिया गया है। शास्त्र में लोभ को समस्त सद्गुणों का

विनाशक कहा है। जब मनुष्य लोभ की जकड़ में फँस जाता है तो कोई भी दुष्कर्म करना उसके लिए कठिन नहीं होता। अतएव सत्यव्रत की सुरक्षा चाहने वाले को निर्लोभ वृत्ति धारण करनी चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति लालच उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए।

चौथी भावना भय-प्रत्याख्यान है। भय मनुष्य की बड़ी से बड़ी दुर्बलता है। भय मनुष्य के मस्तिष्क में छिपा हुआ विषाणु है जो उसे कातर, भीरु, निर्बल, सामर्थ्यशून्य और निष्प्राण बना देता है। भय वह पिशाच है जो मनुष्य की वीर्यशक्ति को पूरी तरह सोख जाता है। भय वह वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य अपने को निकम्मा, नालायक और नाचीज समझने लगता है। शास्त्रकार ने कहा है कि भयभीत पुरुष को भूत-प्रेत ग्रस्त कर लेते हैं। बहुत बार तो भय स्वयं ही भूत बन जाता है और उस मनोविनिर्मित भूत के आगे मनुष्य घुटने टेक देता है। भय के भूत के प्रताप से कइयों को जीवन से हाथ धोना पड़ता है और अनेकों का जीवन बेकार बन जाता है।

भीरु मनुष्य स्वयं भीत होता है, साथ ही दूसरों के मस्तक में भी भय का भूत उत्पन्न कर देता है। भीरु पुरुष स्वयं सन्मार्ग पर नहीं चल सकता और दूसरों के चलने में भी बाधक बनता है।

मनुष्य के मन में व्याधि, रोग, वृद्धावस्था, मरण आदि के अनेक प्रकार के भय विद्यमान रहते हैं। मूल पाठ में निर्देश किया गया है कि रोगादि के भय से डरना नहीं चाहिए। भय कोई औषध तो है नहीं कि उसके सेवन से रोगादि उत्पन्न न हों! क्या बुढ़ापे का भय पालने से बुढ़ापा आने से रुक जाएगा? मरणभय के सेवन से मरण टल जाएगा? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यही नहीं, प्रत्युत भय के कारण न आने वाला रोग भी आ सकता है, न होने वाली व्याधि हो सकती है, विलंब से आने वाले वार्धक्य और मरण को भय आमंत्रण देकर शीघ्र ही निकट ला सकता है। ऐसी स्थिति में भयभीत होने से हानि के अतिरिक्त लाभ क्या है।

सारांश यह है कि भय की भावना आत्मिक शक्ति के परिबोध में बाधक है, साहस को तहस-नहस करने वाली है, समाधि की विनाशक है और संक्लेश को उत्पन्न करने वाली है। वह सत्य पर स्थिर नहीं रहने देती। अतएव सत्य भगवान् के आराधक को निर्भय होना चाहिए।

पाँचवीं भावना है परिहास-परिहार या हास्य प्रत्याख्यान-सरल भाव से यथातथ्य वचनों के प्रयोग से हँसी-मजाक का रूप नहीं बनता। हास्य के लिए सत्य को विकृत करना पड़ता है। नमक-मिर्च लगाकर बोलना होता है। किसी के सदगुणों को छिपाकर दुर्गुणों को उघाड़ा करना होता है। अभिप्राय यह है कि सर्वांश या अधिकांश में सत्य को छिपाकर असत्य का आश्रय लिए बिना हँसी-मजाक नहीं होता। इससे सत्यव्रत का विघात होता है और अन्य को पीड़ा होती है। अतएव सत्यव्रत के संरक्षण के लिए हास्य वृत्ति का परिहार करना आवश्यक है।

जो साधक हास्यशील होता है, साथ ही तपस्या भी करता है, वह तप के फलस्वरूप यदि देवगति पाता है तो भी किल्बिष या आभियोगिक जैसे निम्न कोटि के देवों में जन्म पाता है। वह देवगणों में अस्पृश्य चाण्डाल जैसी अथवा दास जैसी स्थिति में रहता है। उसे उच्च श्रेणी का देवत्व प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार हास्य वृत्ति महान् फल को भी तुच्छ बना देती है।

संयमी के लिए मौनवृत्ति का अवलंबन करना सर्वोत्तम है। जो इस वृत्ति का निर्वाह भावपूर्वक कर सकते हैं, उनके लिए मौन रहकर संयम की साधना करना हितकर है। किन्तु आजीवन इस उत्सर्ग मार्ग पर चलना प्रत्येक के लिए संभव नहीं है। संघ और तीर्थ के अभ्युदय एवं हित की दृष्टि से यह वांछनीय भी नहीं है। फिर भी भाषा का प्रयोग करते समय आगम में उल्लिखित निर्देशों का ध्यान रखकर समितिपूर्वक जो वचन प्रयोग करते हैं, उनका सत्य महाव्रत अखण्डित रहता है। उनके चित्त में किसी प्रकार का संक्लेश भाव उत्पन्न नहीं होता। वे अपनी आराधना में सफलता प्राप्त करते हैं। उनके लिए मुक्ति का द्वार उद्घाटित रहता है।

उपसंहार—इस प्रकार मन, वचन और काय से पूर्ण रूप से सुरक्षित-सुसेवित इन पाँच भावनाओं से संवर का यह द्वार-सत्य महाव्रत सम्यक् प्रकार से संवृत-आचरित और सुप्रणिहित-स्थापित हो जाता है। अतएव धैर्यवान् तथा मतिमान् साधक को चाहिए कि वह आस्रव का निरोध करने वाले, निर्मल (अकलुष), निश्छिद्र-कर्म-जल के प्रवेश को रोकने वाले, कर्मबंध के प्रवाह से रहित, संक्लेश का अभाव करने वाले एवं समस्त तीर्थकरों द्वारा अनुज्ञात इस योग को निरंतर जीवन पर्यंत आचरण में उतारे।

इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) सत्य नामक संवर द्वार यथा समय अंगीकृत,

पालित, शोधित-निरतिचार आचरित या शोभाप्रदायक, तीरित-अंत तक पार पहुँचाया हुआ, कीर्तित-दूसरों के समक्ष आदरपूर्वक कथित, अनुपालित-निरंतर सेवित और भगवान् की आज्ञा के अनुसार आराधित होता है। इस प्रकार भगवान् ज्ञातमुनि-महावीर स्वामी ने इस सिद्धवरशासन का कथन किया है, विशेष प्रकार से विवेचन किया है। यह तर्क और प्रमाण से सिद्ध है, सुप्रतिष्ठित किया गया है, भव्य जीवों के लिए इसका उपदेश किया गया है, यह प्रशस्त-कल्याणकारी-मंगलमय है।

(प्रश्न व्याकरणसूत्र-श्रु.2, अ.2)

स्वाभिमान का स्वरूप एवं फल (अभिमान, स्वाभिमान, सोऽहंभाव)

(चाल : देहाची तिजोरी.....(मराठी)....., भातुकली....., तुम दिल की धड़कन....., क्या मिलिए ऐसे लोगों से....., सायोनारा....., छोटी-छोटी गैया....., आत्मशक्ति से ओतप्रोत.....)

अभिमान स्वाभिमान सोऽहंभाव को...एक न मानो परस्पर तीनों को...

अभिमान मिथ्या है, स्वाभिमान शुभ...सोऽहंभाव दोनों परे होता है शुद्ध

/(स्वभाव)...(स्थायी)...

मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी कषाय युक्त...होता है अभिमान सो ही घमण्ड...

इसके ही प्रभेद है अष्टमद विशेष...भौतिक उपलब्धि में होता मोह/(दम्भ) विशेष...(1)

इससे परे होता स्वाभिमान प्रशस्त...स्व-सुगुण/(आत्मिक गुण) प्रति होता गौरव

प्रशस्त/(भाव)...

सोऽहंभाव दोनों परे आत्म स्वभाव...सच्चिदानन्दमय शुद्ध/(निज) स्वभाव...(2)

स्वाभिमान से होता है आत्म सम्मान...आत्मविश्वास व आत्म विज्ञान...

आत्म महत्त्व तथा आत्म स्वीकृति...आत्म अनुशासन आत्म प्रेमवृत्ति...(3)

होती चारित्र व हित की चिन्ता...विनम्रता व परहित की चिन्ता...

संवेदनशीलता व आशावादिता...दूसरों के सम्मान व कर्तव्यनिष्ठा...(4)

मर्यादा दृढ़ता उदारवादिता...दया दान सेवा क्षमा ज्ञान जिज्ञासा...

इससे विपरीत होते हैं दुर्गुण...जिस जीव में होता है अभिमान...(5)

दोनों से परे है सोऽहं स्वभाव...शुद्ध-बुद्ध व चैतन्य स्वभाव...

अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय... 'कनकनन्दी' का अंतिम लक्ष्य...(6)

(आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक शोधपूर्ण कविता)

अहंकारी-ममकारी=अंधश्रद्धानी, इससे परे सत्यश्रद्धानी

(अहंकार-ममकार करने वाले अंधश्रद्धानी (मिथ्यादृष्टि), इससे परे सम्यग्दृष्टि)

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

गाथा- जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग ति णिदिट्ठा।

आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।। (94) प्रवचनसार

टीका- मनुष्यादिरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते मनुष्यादिशरीरं तच्छरीरा-

धारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूपम् च ममेति ममकारो भण्यते...मिथ्यादृष्टयो

हिन्दी- जो पर्याय में निरत जीव है, उसे परसमय (मिथ्यादृष्टि) कहते।

जो आत्मस्वभाव में स्थित जीव (है), उसे स्व-समय (आत्मधर्म) कहते।।

रहस्य- सच्चिदानंद है जीव-स्वभाव, यह ही जीव का स्वधर्म है।

इससे भिन्न राग-द्वेष-मोह, शरीर आदि परधर्म है।। (1)

स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान ही, परम निश्चय से सम्यक्त्व है।

इसे ही कहते हैं सम्यग्दर्शन या, आत्मविश्वास सत्य श्रद्धान है।। (2)

मनुष्य आदि अवस्था तो, कर्मजनित अशुद्ध पर्याय है।

इसे अपना स्वरूप मानना, निश्चय से अंधश्रद्धान है।। (3)

मैं हूँ बालक युवक प्रौढ़ काला गोरा सुंदर असुंदर।

मोटा दुबला नाटा लंबा, मानना अंधविश्वास है।। (4)

मनुष्यादि शरीर को या उसके, आधारभूत इन्द्रिय सुख को।

मेरा मानकर लीन होना ममत्व, प्रगटाये मोह भाव को।। (5)

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि भोग व, उपभोग में ममत्व करता है।

इसके कारण रागद्वेषमोह व, अन्याय-अत्याचार करता है।। (6)

अहंकार-ममकार में लीन जीव, न जानता आत्म-स्वभाव को।

जिससे जीव होता (है) मिथ्यादृष्टि, न जाने सत्य व आत्मा को।। (7)

अहंकार के कारण करता अष्टमद, जो तन-मन-धन आदि आश्रित है।
 ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा सहित होकर, करता आडम्बर व दिखावा है॥ (8)
 ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि चाहता, जिस हेतु करता काम है।
 पढ़ाई-बढ़ाई-चमड़ी-दमड़ी हेतु, करता विभिन्न पाप-काम है॥ (9)
 ममकार से जीव हो जाता आसक्त, न जानता हित-अहित है।
 विषय-वासना व फैशन-व्यसनों से, करता आत्म-पतन है॥ (10)
 इनसे परे हैं आत्मविश्वास-ज्ञान, व सदाचरण आत्मधर्म है।
 आत्मविश्लेषण-आत्मानुसंधान, आत्मकथन-आत्मध्यान है॥ (11)
 स्व-आत्मा का अध्ययन ही यथार्थ से, स्वाध्याय-परमतप है।
 आत्म-ज्ञान ही है परम-विज्ञान, यह ही ज्ञानामृत भोजन है॥ (12)
 आत्मा का कथन ही परम प्रवचन, अन्य तो सभी प्रपंच है।
 आत्मध्यान ही है परमध्यान, अन्य ध्यान सभी दुर्ध्यान है॥ (13)
 ममत्व त्यागकर समत्व धरना, यह ही परम चरण है।
 अन्य सभी है मिथ्या-आचरण, संक्लेश-द्वंद्व-पतन है॥ (14)
 यह है सतपथ आध्यात्मिक पथ, जो सत्य-शिव-सुंदर है।
 आत्म-वैभव प्राप्ति के कारण, 'कनक' का निज स्वरूप है॥ (15)

सज्जन एवं दुर्जन संगति के फल

(राग : हल्दीघाटी में समर..., गजानना श्री गणराया...)

सज्जन संगति करणीय...सद्गुण सदा वरणीय।

दुर्जन संगति त्यजनीय...दुर्गुण कदा न भजनीय॥

सज्जन शीतल छाया सम...दुःख ताप के उपशम।

दुर्जन अग्नि ताप सम...दुःख ताप के प्रवर्द्धन॥

चन्दन सम सज्जन संग...सुगन्ध शीतल अनुपम।

दुर्गन्ध सम दुर्जन संग...दुर्गन्ध दूषित होता मन॥

सज्जन होते दीप सम...स्व-पर प्रकाशित जीवन।

अन्धकार सम होते दुर्जन...स्व-पर अप्रकाशी जीवन॥

मधुर संगीतमय सज्जन...झंकृत हो जाता सुमन।
शोरगुल सम है दुर्जन...तनावमय होते तन-मन।।

सूर्यकिरण समान सज्जन...विकसित होते गुणी सुमन।
कोहरा के सम है दुर्जन...विनाशकारी होते सुमन।।

प्रेरक प्रसन्नकारी सज्जन...प्रोत्साहनकारी मिले सुज्ञान।
कुण्ठा निराशकारी दुर्जन...शंका भय मिले कुज्ञान।।

अमृत समान होते सज्जन...रोग-शोक प्यास शमन।
मद्य समान होते दुर्जन...पाप-ताप/(मद) दुःख जनम।।

उदार सहिष्णु होते सज्जन...स्व-पर उपकारी निर्मल मन।
अनुदार स्वार्थी होते दुर्जन...स्व-पर अपकारी दूषित मन।।

सज्जन संगति करो हे ! जन...उन्नतमय करो जीवन।
दुर्जन संगति त्यजो हे ! जन...'कनक' संगति करे सज्जन।।

“दूसरे क्या बोलेंगे-क्या सोचेंगे की समीक्षा”

“किसके वचन ग्रहणीय तथा अग्रहणीय”

(राग : यमुना किनारे श्याम..., छोटी-छोटी गैया...)

सत्य-हित-पथ्य बातें सुना भी करो...मनन-चिन्तन द्वारा स्वीकार करो।
इससे अन्य बातें सुना न करो...सुनने पर भी उसे मत स्वीकारो।
समीक्षा सहित शिक्षा ग्रहण करो...गुण-दोष विवेक से समीक्षा करो।। (1)

दयालु प्रामाणिक व हितोपदेशी, हिताहित विवेक सह जो अनुभवी।
उनके ही वचन है ग्रहण योग्य, अन्य के वचन हो ग्रहण-योग्य।
अधिसंख्य मानव न होते सुयोग्य, जिनके वचन हो ग्रहण योग्य

/(उनके वचन नहीं ग्रहण योग्य)।। (2)

अधिसंख्य मानव होते रायचन्द जी, छिद्रान्वेषणकारी ईर्ष्यालु वृत्ति।
विघ्न संतोषी वाले कषायवृत्ति, दाल-भात में होते बालचन्द जी।
निन्दारस प्रेमी या चाटुकारी वृत्ति, गपोडशंख समान वाचालवृत्ति।। (3)

धूर्त लोमड़ी सम या शकुनीवृत्ति, मंथरा सम या वैश्या सम प्रवृत्ति।
 उग या चोर सम शोषण प्रवृत्ति, मच्छर जोंक के सम नीच प्रवृत्ति।
 बगुला के समान कुटिल वृत्ति, शिकारी के समान जिनकी वृत्ति॥ (4)

इनके कथन ग्रहण योग्य न होते, भले वे शिक्षित बुद्धिशाली क्यों न होते।
 सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि युक्त क्यों न होते, किसी भी धर्म (या) जाति के क्यों न होते।
 माता-पिता भाई-बन्धु समाजजन, विश्वास योग्य नहीं होते (हैं) अयोग्य जन॥(5)

तीर्थकर बुद्ध महामानव आदि, अयोग्य वचन को न देते सम्पत्ति।
 जिससे महामानव गुणी वे हुए, स्व-पर कल्याण हेतु कार्य वे किये।
 महामानवों को भी दुर्जन खूब सताते, उन्हें भी उपदेश देते व निन्दा करते॥ (6)

दूसरों के अनुसार जो हैं चलते, दूसरों के अनुसार जो बोलते।
 दूसरों के अनुसार जो हैं सोचते, उन्हें ही (तो) गुलाम या पराधीन कहते।
 वे ही नकली-फैशनी-व्यसनी होते, अन्धानुकरणशील कायर होते॥ (7)

कौरव नाश हुए शकुनी हेतु, राम वनवासी हुए मंथरा हेतु।
 ऐसा ही अनेक जन नाश हो जाते, जो भी असत्यमय कथा मानते।
 अतएव महात्मा एकान्त में रहते, जन सम्पर्क से रहित मौन रहते॥ (8)

सत्यानुसार सोचते तथा चलते, वे ही सत्यनिष्ठ प्रमाणिक भी होते।
 मौलिक चिन्तक स्वाधीनचेता वे होते, हिताहित विवेकशील वे होते।
 वे ही प्रगतिशील चिन्तक सज्जन होते, स्व-पर उपकारी स्वाधीन होते॥ (9)

वे ही दार्शनिक वैज्ञानिक भी होते, समाज सुधारक साधु-संत भी होते।
 इनसे ही उपकृत मानव जाति, ज्ञान-विज्ञान उनसे होती उत्पत्ति।
 मानव जाति के मार्गदर्शक होते, “कनकनन्दी” को ऐसे जन
 / (गुण) ही भाते॥ (10)

“विवाद-विसंवाद से सत्य व शान्ति अप्राप्त”

(राग : सायोनारा....., शायद मेरी शादी.....)

वाद-विवाद नहीं करणीय, हठाग्रह दूराग्रह त्यजनीय।
 सनम्र सत्याग्रह भजनीय, संकीर्ण पूर्वाग्रह त्यजनीय॥ (1)

सरल सहज भाव करणीय, पाखण्ड व दंभ त्यजनीय।

प्रज्ञा श्रद्धा न त्यजनीय, दीन-हीन भाव न वरणीय।। (2)

सत्य समता शान्ति भजनीय, विवश भय न वरणीय।

प्रेम एकता न खण्डनीय, वैर विरोध न करणीय।। (3)

विवादेन/(बहस से) समाधान नहीं होता, विवाद/(बहस) है संकीर्ण मानसिकता।

पराजित या विजयी दोनों, वैचारिक समाधान नहीं पाते।। (4)

विवाद से समय नष्ट होता, सौहार्द्र समन्वय नष्ट होता।

कलह विसंवाद द्वेष बढ़ते, समाधान सत्य नहीं पाते।। (5)

धैर्य से सही कार्य करणीय, कर्तव्य से सत्य सिद्धनीय।

‘सत्यमेव जयते’ यह सत्य, विवाद नहीं है हित/(प्रिय) सत्य।। (6)

अनेकान्त स्याद्वाद सेवनीय, प्रमाण नय भी भजनीय।

समता शान्ति रक्षणीय, ‘कनकनन्दी’ को यह प्रिय।। (7)

बातें ही बातें मत करो

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

बातें ही बातें व बातें करते, उद्देश्य शिक्षा हीन बातें करते।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव नहीं देखते, उचित कार्य को भी नहीं करते।।

सत्य-तथ्य हीन भी बातें करते, समय शक्ति को भी नष्ट करते।

भूत घटनाओं की बातें करते, पिष्ट-पोषण रूप से बातें करते/(गप्प हाँकते)।।

क्या किया क्या कहा क्या सुना, क्या खाया क्या पीया क्या पहिना।

कहाँ गया कहाँ आया कहाँ बैठा, कहाँ सोया कहाँ लेटा कहाँ उठा।।

बेचना खरीदना व लेना-देना, जनम-मरण व रोना-धोना।

नहाना धोना व खाना बनाना, निन्दा चुगली व कटु कहना।।

इत्यादि बातें अनर्गल बकते, हँसी-मजाक व थट्टा/(व्यंग्य) करते/(कसते)।

अतर्क वितर्क कुतर्क करते, मिया मिट्टू रूप से डींग हाँकते।।

लड़ाई-झगड़ा व गाली बकते, कपोल कल्पित अंटसंट बोलते।

तन-मन आत्मा को दोषी बनाते, शब्द प्रदूषण भी खूब करते।।

हित मित प्रिय नहीं बोलते, इससे अन्य को भी बाधा देते।

सत्य वचन व्रत नहीं पालते, मानसिक स्थिरता को नहीं पाते।।

महान् कार्य से वंचित होते, मानव जन्म को व्यर्थ गँवाते।

ध्यान अध्ययन से वंचित होते, ज्ञान-अनुभव से रहित होते।।

अतएव हितमित प्रिय बोलों, वचन समिति व मौन पालों।

महान् कार्य की साधना करो, 'कनक' का आशीष सत्य बोलो।।

ईर्ष्या के रूपान्तरण से विकास

(राग : चौपाई....., नरेन्द्र छन्द.....)

रूपान्तरण कर ईर्ष्या भाव का, अग्नि का यथा खाना बनाने का।

दुर्भावना से ईर्ष्या अहितकर, सुभावना से करो रूपान्तर।।

स्वयं का मूल्यांकन स्वयं ही करो, निष्पक्ष भाव से यथार्थ करो।

दूसरों से ईर्ष्या कभी न करो, दूसरों से आगे बढ़ते चलो।।

दूसरों की प्रगति से शिक्षा लो, उनसे भी आगे बढ़ते चलो।

दूसरों को पीछे मत धकेलो, दूसरों की प्रगति भी करते चलो।।

ईर्ष्या रूपी अग्नि का कर रूपान्तर, उससे करो हो स्व-दोष दहन।

उससे स्वशक्ति जागृत होगी, प्रगति के हेतु सहयोगी बनेगी।।

दूसरों के अच्छे गुण देखा भी करो, दूसरों की प्रशंसा सुना भी करो।

उनसे भी श्रेष्ठ गुणी बनते चलो, प्रशंसनीय कार्य किया भी करो।।

स्वयं के गुण जब अधिक होंगे, अधिक प्रशंसनीय जब बनोगे।

श्रेष्ठ ज्येष्ठ आदर्श जब बनोगे, अन्य प्रति ईर्ष्या भाव न होंगे।।

क्षुद्र संकीर्ण व्यक्ति ईर्ष्या करते, ज्वलनशील ही ईंधन बनते।

अमूर्तिक आकाश न कभी जलता, महान् व्यक्ति ईर्ष्या नहीं करता।।

वन्दे तद्गुण लब्धये भाव सहित, आध्यात्मिक विकास लक्ष्य से युक्त।

महान् व्यक्तियों के गुणानुराग, विकास हेतु है शुभानुराग।।

इससे बनते महान् व्यक्ति मानव, साधु संत व साधक जन।

शुभ से शुद्ध प्राप्त महान् गुण, इस हेतु 'कनक' करे प्रयास।।

अधम धर्म के नाम पर अधर्म ही करता

(राग : छोटी-छोटी गैया.....)

अधम धर्म नहीं जानता, धर्म में भी अधर्म करता।

धर्म से धन-मान चाहता, भोग-उपभोग-नाम चाहता।।

अन्य धर्मी से घृणा करता, शत्रु मानकर कष्ट भी देता।

बलि चढ़ाकर धर्म मानता, धार्मिक होने का दंभ करता।।

रीति-रिवाज को ही धर्म मानता, देखादेखी ही धर्म करता।

सत्य-तथ्य को नहीं जानता/(मानता), समता-शान्ति से रिक्त होता।।

साक्षात् धर्म नहीं जानता, प्रतीकमय धर्म करता।

पर्व-उत्सव में ही धर्म करता, धर्मस्थल में ही धर्म मानता।।

ढोंग-दिखावा खूब करता, आत्मा को पावन नहीं करता।

बाह्य में भगवान् को खोजता, आत्मा में प्रभु को नहीं देखता।।

भीड़ में ही धर्म-कर्म करता, आत्मा का ध्यान नहीं करता।

धन से धर्म का मूल्य करता, शुचि-भाव को न धर्म जानता।।

अन्ध श्रद्धा से धर्म करता, आत्मविश्वास नहीं करता।

सत्यज्ञान को नहीं करता, परम्परा से धर्म-कर्म करता।।

स्वार्थ-पूर्ति हेतु धर्म करता, परमार्थ को नहीं मानता/(जानता)।

निज-पर को दुःख भी देता, संक्लेशमय धर्म करता।।

धर्म तो सत्य समतामय है, अहिंसा शान्ति शुचितामय है।

दयादान प्रेम सेवा है, सरल-सहज व क्षमा है।।

आत्मा का ज्ञान व ध्यान है, परमात्माय बनना है।

सत्य व शिव सुन्दर है, 'कनकनन्दी' के अन्दर है।।

व्यंग्यात्मक सुधारपरक कविता

“मन्यमाना सभ्य मानव की असभ्य-बर्बर वृत्ति”

(राग : सुनो-सुनो हे दुनिया वालों.....)

सुनो-सुनो हे सभ्य मानव!...तुम्हारी असभ्य बर्बर वृत्ति।

सत्ता-संपत्ति बुद्धि के द्वारा...जो करते हो क्रूर प्रवृत्ति।।धु.।।

सत्तादि द्वारा शोषण करते हो...जो होते हैं सत्तादि हीन।

शोषण से सत्तादि प्राप्त करके...बन जाते हो और महान्।।

यह प्रवृत्ति तुम्हारी होती...राजनीति धर्म अर्थतंत्र में।

राजतंत्र व समाजवाद...लोकतंत्र या पूँजीवाद में।। (1)

राज्य विस्तार या धर्मप्रचार...उपनिवेश व व्यापार द्वारा।

अन्य राज्यों पर कर आक्रमण...विध्वंस शासन सत्तादि द्वारा।।

देश-विदेशों के इतिहास हैं...कलंकित इस कृति के द्वारा।

कलंकित इस कृतित्व को तू...महिमा-मण्डित किया स्वयं के द्वारा।। (2)

महाभारत व रामायण युद्ध...राजा चक्री के दिग्विजय।

सिकन्दर व चंगेज खाँ...अकबर बाबर के दिग्विजय।।

अंग्रेजी फ्रांस के उपनिवेश...अथवा रोमन साम्राज्य गाथा।

दोनों विश्वयुद्ध सभ्य मानव की...गा रहे हैं बर्बर गाथा।। (3)

दासप्रथा व कालागोरा-भेद...बलिप्रथा व दहेज हत्या।

जातिमद आदि अनेक मद...शोषक-शोषित भ्रूणों की हत्या।।

मालिक मजदूर या बंधुआ मजदूर...ऊँच-नीच की घृणित प्रथा।

गरीब असहाय बाल व महिला...कृषक शिल्पी की शोषण कथा।। (4)

रोगी पशु-पक्षी प्रकृति शोषण...आतंकवाद व नृशंस हत्या।

डाकिनी-प्रथा व बालविवाह...अनमेल विवाह फैशन प्रथा।।

व्यसन विलास पशुकूरता...मिलावट अति व्याज की प्रथा।

अश्लील सिनेमा संगीत नृत्य...नशा सेवन सभ्य की गाथा।। (5)

मानव अभी तू सभ्य न बना...नैतिक अध्यात्म दूर की गाथा।

सभ्य साक्षर संस्कारवान् बनो...फिर गाओ हे! नैतिक गाथा।।

नैतिक से धार्मिक बनो...जिससे तुम्हारी सुधरे दशा।

उदार सहिष्णु क्षमावान् बनो...दया परोपकार से सुधरे दशा।। (6)

पावन समता से आध्यात्मिक बनो...जिससे मिलेगी मोक्ष की दशा।

इसी हेतु ही “कनकनन्दी”...प्रयासरत अंतरंग की दशा॥

सुनो-सुनो हे दुनिया वालों...तुम्हारी असभ्य-बर्बर वृत्ति।
सत्ता-संपत्ति बुद्धि के द्वारा...जो करते हो क्रूर प्रवृत्ति॥ (7)

व्यंग्यात्मक सुधारपरक कविता

“दुर्जनों की पहचान-कथनी-करनी में भिन्नता”

(राग : अच्छा सिला दिया.....)

“सत्यमेव जयते” का तो गान गाते, असत्यमय काम लोग करते।

“परस्पर उपग्रहो” वाक्य लिखते, वैर-विरोध-ईर्ष्या-द्वेष करते॥ (ध्रुवपद)

“अहिंसा परमो धर्म” नारा लगाते, पर्यावरण विनाश खूब करते।

“हित-मित-प्रिय” का गाना गाते, अहित-अप्रिय खूब बोलते॥ (1)

“जीओ और जीने दो” नारा लगाते, “जीओ और जाने दो” काम करते/

“जीव जीवस्य भक्षण” काम करते।

“विद्या ददाति विनय” पाठ रटते, उद्दण्ड दुराग्रह काम करते॥ (2)

“यथा बोया तथा पाया” नीति बोलते, कर्तव्य बिना अधिकार चाहते।

“आत्मदीप परदीप” श्लोगन बोलते, अज्ञानमय भाव काम करते॥ (3)

“लोभ पाप का बाप” लोग कहते, शोषण भ्रष्टाचार खूब करते।

“संतोष परम सुख” लोग कहते, भोग लालसा तृष्णा बहुत करते॥ (4)

स्वर्ग-नरक मोक्ष रट्टा लगाते, उत्तम भाव-व्यवहार नहीं करते।

“वस्तु स्वभाव धर्म” लोग बोलते, जड़ (पर) वस्तु संग्रह में लगे रहते/

(अशांत तनाव से युक्त रहते)॥ (5)

स्वयं को अनेकांती जन मानते, उदार सहिष्णु नहीं रहते।

स्याद्वाद का गुणगान करते, पूर्वाग्रह दुराग्रह नहीं छोड़ते॥ (6)

गुरु गुणीजन की पूजा करते, उनका आदर्श नहीं मानते।

तोता रटन्त पाठ को महत्व देते, अनुकरण अनुभव नहीं करते॥ (7)

सत्य समता शांति नारे बोलेंगे, जीवन में तिरस्कृत उसे करेंगे।

“नहि ज्ञानेन सदृश्यमिह” कहेंगे, आध्यात्मज्ञान से रिक्त रहेंगे॥ (8)

भाव हिंसा को महाहिंसा कहेंगे, पवित्र भावना से रिक्त रहेंगे।
दोंग-पाखण्ड नहीं कर बोलेंगे, सरल-सहज से शून्य रहेंगे॥ (9)

शाकाहार का गुणगान करेंगे, फैशन-व्यसन में मस्त रहेंगे।
सत्यग्राही बनने का पाठ पढ़ेंगे, नकलची जीवन ढोते रहेंगे॥ (10)

परोपकार महापुण्य बोलेंगे, पर अपकार के काम करेंगे।
उदार पवित्र भाव नहीं रखेंगे, गोमुख व्याघ्र सम काम करेंगे॥ (11)

यह भाव-व्यवहार युक्त नहीं है, विकास करने का मार्ग नहीं है।
मन वचन काय से पावन बनो, 'कनक' की भावना महान् बनो॥ (12)

व्यंग्यात्मक सुधारपरक कविता

“दुर्जन की प्रकृति एवं प्रवृत्ति”

(राग : रघुपति राघव राजा.....)

मन वच काय से सत्य प्रवृत्ति, सज्जन महात्मा को होती प्रवृत्ति।
मन वच काय से भिन्न प्रवृत्ति, दुर्जन पापात्मा की होती वृत्ति॥ध्रुवपद॥

“रघुपति राघव राजाराम”, सब कुछ मुझे ही दे दो भगवान्।
“सत्यमेव जयते” कहना काम, सब कुछ असत्य से करना काम॥ (1)

“बगल में छुरी और मुँह में राम”, कथनी करनी में होता न साम्य।
“परस्पर उपग्रहो” मेरे लिए काम, अन्य के काम हेतु जाने भगवान्॥ (2)

“अहिंसा परमो धर्म” स्व रक्षा काम, स्वार्थपूर्ति हेतु हिंसा से काम।
“जीओ और जीने दो” बोलना काम, स्वयं के जीने हेतु मारना काम॥ (3)

मणे तो सब कहे “हित-मित-प्रिय”, अन्य को मैं कहुँ मुझे जो प्रिय।
“आत्मानं प्रतिकूलानि” मेरे लिए ग्राह्य, अन्य से व्यवहार मुझे जो ग्राह्य॥ (4)

मन्यमाना मेरा सब होता ही सत्य, अन्य की मान्यता सब ही असत्य।
Mine is Right सर्वथा सत्य, Right is Mine मानूँ न सत्य॥ (5)

पापात्मा का पतन अवश्य होता, सज्जन महात्मा का विकास होता।
पाप प्रवृत्ति के वर्जन हेतु, 'कनक' की रचना सृजन हेतु॥ (6)

स्व-पर हित हेतु स्व-पर गुण-दोष ज्ञातव्य

(राग : दोहा.....)

बुरा ही देखने जो चला, बुरा ही देखता सही।

अच्छा ही देखने जो चला, समीक्षा/(परीक्षा) करता सही॥1॥

बुरा ही देखने जो चला, बुरा ही होता वो सही।

अच्छा ही देखने जो चला, गुणज्ञ होता वो सही॥2॥

काला चश्मा धारक सम, बुरा जो व्यक्ति होय।

अच्छा बुरा सब एक-सा, लगे ऐसा दुर्गुण होय॥3॥

(सही)/पारदर्शी चश्मा धारक सम, गुणज्ञ व्यक्ति होय।

जो जैसा हो वह वैसा देखे, बुरा या अच्छा/(जो) होय॥4॥

बुरा व्यक्ति सदा अन्य को, बुरा ही सदा माने।

अवचेतन संतुष्टि से, स्वयं को ही अच्छा माने॥5॥

गुणज्ञ व्यक्ति व गुणग्राही, जो होता सो सज्जन।

स्व-पर गुणों को सो गुण माने, कुगुण को कुगुण॥6॥

बुरे भले दोनों जीव होते, संसार के माँहि।

बुरे व्यक्ति बुरे गुणों से, बचे सो सज्जन होय॥7॥

स्व-गुणों को भी गुणज्ञ, गुण ही मानेगा सही।

स्व-गुणों की वृद्धि से, महान् बने जग माँहि॥8॥

स्व-गुणों को भी कुगुण, मानेगा सही नहीं।

ऐसा यदि होयेगा तो, सुगुण विकास न होय॥9॥

हीन भावना भी आयेगी, पुरुषार्थ होगा हीन।

उत्साह साहस धैर्य भी, हो जायेंगे विहीन॥10॥

स्वाभिमान न आयेगा, नहीं होगा है विकास।

आत्मविश्वास भी न होगा, न होगा आत्मविकास॥11॥

आत्म चिन्तन मनन स्मरण, नहीं होगा आत्मज्ञान।

सोऽहं भाव भी नहीं होगा, नहीं होगा आत्मध्यान॥12॥

इसी से धर्म का होगा लोप, होगा आध्यात्म लोप।

मोक्ष मार्ग का भी होगा लोप, होगा मोक्ष का भी लोप॥13॥

अतएव बुरा भाव से, अन्य के बुरा न देखो।

स्व-पर हित हेतु स्व-पर, गुण-दोष भी देखो॥14॥

यह है मनोविज्ञान नैतिक, शिक्षा व आध्यात्मिक।

इसे ही 'कनक' माने, विकास हेतु आध्यात्मिक॥15॥

पाप के विभिन्न रूप समझा करो

(तर्ज : यमुना किनारे.....)

पाप के विभिन्न रूप समझा करो, एक को छोड़कर अन्य न करो।

एक को छोड़कर अन्य किया जब, पाप का बंधन भी हुआ तब॥

एक छेद बंद कर अन्य किया है, जहाज में पानी भी तब आया है।

कोई हिंसा छोड़कर क्रोध करे है, पाप का बंधन हुआ करे है।

कोई चोरी छोड़कर लोभ करे है, लोभ के कारण नरक वरे है।

कोई कुशील त्यागकर चुगली करे है, चुगली से भी पाप बंध करे है॥ पाप...

पंचपाप से कर्म बंध होता है, वह कर्म कषायों से बंध होता है।

बाह्य पंच पाप त्यागी जो होता है, कषायों से वही पापी होता है।

आत्म हनन रूप से पाप फल सम है, उसके अनुरूप से कर्म बंध सम है॥ पाप...

कोई धर्म क्रिया काण्ड रूढ़ि से करे, परिणाम शुद्धि बिना पाप भी करे।

परिणाम ऊपर ही पुण्य पाप निर्भर, परिणाम ऊपर ही बंध मोक्ष निर्भर।

परिणाम शुद्धि हेतु क्रियाकाण्ड करो हे, तप, त्याग, ज्ञान, ध्यान, दान सेवा करो है॥

बाह्य व्रत तप, ज्ञान, अग्नि पानीसम है, अंतरंग परिणाम तंदुलों के सम है।

भात रूप परिणाम इनसे होता है, चाँवल के बिना क्या भात होता है?

उपादान कारण तो अंतरंग होता है, प्रमुख ही कार्य रूप परिणत होता है॥

बाह्य धर्म कर्म करे बहु जन रे, अंतरंग शुद्धता में अधिकांश रे।

शुद्धता के बिना वे सुफल चाहे है, चाँवल के बिना वे भात चाहे है।

'कनकनन्दी' उन्हें दया से बताये, पवित्र भाव को हृदय में धारो रे॥

छोटे-छोटे दोषों के बड़े-बड़े खोटे फल

(नवधा-सामान्य ज्ञान)

(कार्य, सफलता, स्वास्थ्य, शांति में बाधक छोटे-छोटे दोष)

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

छोटे-छोटे दोषों को तुच्छ न मानो...बड़े-बड़े अनर्थों के कारण मानो...

यथा छोटे-छोटे मच्छर-रोगाणु होते...बड़े-बड़े पशु-पक्षी मनुष्यों को मारते...(1)

सही समय पर खाना-पीना-सोना-जागना...मल मूत्र विसर्जन व्यायाम करना...

फैशन-व्यसन व आलस्य त्यागना...पवित्र भाव व व्यवहार करना...(2)

सामान्य जन इन्हें महत्व न देते...जिससे तन-मन-स्वस्थ-सबल होते...

कार्य भी समय पर व उत्तम होते...समय-साधन-धन (भी) अपव्यय न होते...(3)

प्राथमिक ज्ञान सही व समय पर कीजिये...निर्देश आदि सूचना को सही समझिये...

अन्यथा कोई भी काम समय पर न होंगे...सफलता पाने में असमर्थ ही होंगे...(4)

प्राथमिक भाषा ज्ञान को सही कीजिये...व्युत्पत्ति व व्याकरण सह कीजिये...

अन्यथा सीखना पढ़ना लिखना बोलना...न हो पायेगा संवाद व समझना...(5)

परनिन्दा व अपमान नहीं कीजिये...छिद्रान्वेषण व गप्प से सदा बचिये...

अन्यथा वाद-विवाद-कलह होंगे...प्रेम-संगठन-सहयोग भी न होंगे...(6)

विनम्र-सदाचारी-अनुशासी होईये...स्वावलंबी कर्तव्यनिष्ठ होईये...

उदार सहिष्णु परोपकारी होईये...सफल बनने हेतु इन्हें अपनाइये...(7)

तन-मन-आत्मा को स्वच्छ रखिये...प्रदूषण रिक्त वातावरण में रहिये...

हित-मित-प्रिय शालीन बोलिये...प्राकृतिक सात्विक शाकाहार कीजिये...(8)

आवश्यकता प्राथमिकता से काम कीजिये...अनुभव व क्षमता से आगे बढ़िये...

आश्चर्यकारी कठिन भी कार्य होंगे...‘कनक’ के दीर्घ अनुभव से लाभ लीजिये...(9)

निर्दोषी गुणी धार्मिक साधु आदि के अनादर का भयंकर परिणाम

(राग : आत्मशक्ति....., इतनी शक्ति हमें....., सावन का.....)

हर जीव है भगवत् स्वरूप, कोई सुप्त है कोई जागृत।

अतएव सर्वजीव रक्षणीय किसी की क्षति नहीं करणीय।।

मित्रता करणीय सर्वजीव में, प्रमोद भाव गुणी जीव में।

कृपा करणीय दुःखी जीव प्रति, माध्यस्थ भाव विपरीत प्रति।।

जीव ही सर्व द्रव्य में श्रेष्ठ, सर्व तत्त्व में जीव ही ज्येष्ठ।

सर्व धर्म में जीव ही उत्तम, सर्व तीर्थ में जीव उत्तम।।

सन्माननीय सर्व जीव है, यथायोग्य भाव कर्मानुसार।

जीव का अनादर सर्व अनादर, द्रव्य तत्त्व धर्म तीर्थ अनादर।।

सर्व जीव की रक्षा करणीय, ताडन मारण कष्ट न देय।

उत्तरोत्तर गुणी जीवों की, अधिकाधिक रक्षा करणीय।।

गुणी सज्जन धर्मात्मा जन को, उत्तरोत्तर सन्मान देय।

धार्मिक जनों का सही सन्मान ही, जीवन्त धर्म का सही सन्मान है।।

धर्मी को छोड़कर धर्म न होता, धर्मी-धर्म दोनों अभेद होते।

धार्मिक जनों का अनादर ही, जीवन्त धर्म का अनादर है।।

होते हैं धर्ममय पंचपरमेष्ठी, रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्गमय।

दशधर्ममय मोक्ष स्वरूप भी, मन्दिर मूर्ति तो प्रतीक है।।

पूजनीयों का अनादर करना, सबसे महापातक होता।

इसीसे श्रेणिक नरक गया, श्रीपाल कुष्ठ व अपमान पाया।।

साठ हजार मानव जलकर, अनेक भवों में कष्ट को पाये।

सगर चक्रवर्ती के पुत्र भी बनके, यक्षराज द्वारा मूर्च्छित हुए।।

न करणीय पूज्य-पूजा व्यतिक्रम, अतिचार-अनाचार अविधेय।

अतिक्रम भी नहीं करणीय, सन्मान सत्कार पूजा करणीय।।

अर्चना वन्दना स्तुति करणीय, विनय व नमस्कार करणीय।

आहार औषधि ज्ञान वसतिका, कमण्डल पिच्छी संस्तर देय।।

भक्ति से वैयावृत्ति करणीय, उपसर्ग परीषह दूर करणीय।

उपगूहन व स्थिति करणीय, वात्सल्य से प्रभावनीय।।

चतुः संघ में यह करणीय, धर्म प्रभावना सदा करणीय।

सातिशय पुण्य बन्ध होता है, तीर्थकर प्रकृति का आस्रव होता है।।

अभ्युदय निःश्रेयस सुख भी मिलता, वन्दे तद्गुण लब्धये भी बताता।

भक्ति से भुक्ति भी मुक्ति मिलती, 'कनक' को भी यह नीति भाती।।

“मोही न देखता सत्य-तथ्य”

(राग : आत्म शक्ति से ओत-प्रोत.....)

स्वार्थ संकीर्ण मोह से आछन्न, व्यक्ति न देखता सत्य-तथ्य।

अमूर्तिक व अनंत आकाश को, आँख देखती यथा गोल-गुम्बज।।धु.।।

धर्म तो होता सत्य समता, पवित्रता व अहिंसा क्षमा।

परन्तु मोही करे विपरीत, चाहता सुख करता ड्रामा।। (1)

इन्द्रिय सुख हेतु मानव करता, (जो) फैशन-व्यसन तथा आलस्य।

उससे तन-मन अस्वस्थ होते, नाश भी होते धन समय।। (2)

तम्बाखू सेवन से होते कैंसर, मोतिया-बिन्दु ग्लोकोमा व अंध।

हिंसा प्रदूषण धन-आयु-नाश, तो भी त्याग न करता मोहांध।। (3)

डीजल/(पेट्रोल) धुएँ से होता प्रदूषण जिससे होता फेफड़ों का कैंसर।

जिससे मरते लाखों व्यक्ति, तथापि प्रयोग न छोड़े पामर।। (4)

खनन उद्योग से होता प्रदूषण, असंख्य जीवों का होता हनन।

तथापि लोभी करता खनन, प्रकृति प्रकोप को भी करता सहन।। (5)

क्रोध-मान-माया-लोभ के कारण, होता पापबंध होता तनाव।

जिससे विविध दुःखों को सहता/(भोगता), तथापि शांत न होता/(रहता) मानव।। (6)

सादा जीवन उच्च विचार से, पावनमय जो ही होता जीवन।

तथापि मूढ़ विपरीत करे, नीच विचार व दंभ जीवन/

(उच्च दुकान व फीका पकवान)।। (7)

वेश्या सेवता पाप भी करता, लाईलाज रोगमय एड्स भोगता।

नारकी सम जीवन जीता, धनमान तथा जीवन को खोता॥ (8)

सुख को चाहता पाप ही करता, विष पीकर जीवन चाहता।

सम्मान चाहता सम्मान न देता, बबूल बोकर आम ही चाहता॥ (9)

परिग्रह हेतु बहु पाप करता, समस्त पाप व कषाय करता।

प्रकृति शोषण हनन करता, प्रदूषण द्वारा रोगों को बुलाता॥ (10)

उद्योग फैक्ट्री यान वाहन व हिंसात्मक प्रसाधनों से।

प्रदूषण हिंसा परिग्रह पाप रोग को करता मोह भाव से॥ (11)

इससे दुःख अनेक भोगता, जन्मान्ध के सम मार्ग न जानता।

मार्ग का दर्शन विवेक से होता, पुरुषार्थ द्वारा दुःखों को भगाता॥ (12)

कषाय क्षीण से विवेक जगता, आत्मशोधन से संभव जो होता।

‘कनक’ प्रयास तो सतत करता, विश्व मानव को आह्वान करता॥ (13)

नीच मानव एवं उच्च मानव के भाव एवं काम

(आवेश-विवश-क्षुद्र स्वार्थवश होते हैं नीच मानव,

इससे परे उच्च मानव)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., आत्मशक्ति....., शत-शत वंदन.....)

1. ईर्ष्या द्वेष घृणा काम तृष्णादि से, आवेशित है सामान्य मानव।

जो इनसे परे हो गये, वे होते आध्यात्मिक महान्॥

धन जन मान ख्याति पूजा हेतु, मानव करते हैं अनेक काम।

जो इनसे परे हो गये, वे होते हैं आध्यात्मिक जन॥ (1)

2. ईर्ष्यादि से आवेशित होकर, करते मानव अनेक काम।

शिक्षा से लेकर विवाह वाणिज्य, राजनीति आदि धार्मिक काम॥

अपना-पराया भेदभाव युक्त, काम करते हैं नीच मानव।

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ, सह काम करते हैं उच्च मानव॥ (2)

3. आहार-भय-मैथुन परिग्रह हेतु, काम करता है पशु समान।

इनसे आवेशित संसारी जीव, विवशता से करते हैं काम।।

विवश रहित स्व-वश सहित, जो करते हैं स्व-उपकार।

वे ही महामानव हैं जो, करते हैं स्व-पर विश्व उद्धार।। (3)

4. राजा-रंक या नागरिक नेता, मालिक-मजदूर या चक्रवर्ती।

हीरो-हीरोईन कलाकार संगीतकार, खिलाड़ी या उद्योगपति।।

धन-जन-मान या सम्मान आवेशित, करते स्व-स्व स्वार्थ के काम।

वे भी विवशता क्षुद्र उद्देश्यवश, होने के कारण न होते हैं महान्।। (4)

5. तथाहि डॉक्टर वकील इंजीनियर, लेखक न्यायाधीश या वैज्ञानिक।

वैद्य विद्वान् या धार्मिकजन, साधु-साध्वी या धर्म प्रचारक।।

क्षुद्र लक्ष्य व स्वार्थवश से, जो करते हैं विविध काम।

वे भी क्षुद्र जन न होते महान्, केवल लेबल/(बाह्य) से न होते महान्।। (5)

6. पवित्र उदार सत्य-साम्य युक्त जो, होते हैं वे सभी महान्।

महान् लक्ष्य व पवित्र भाव युत, अप्रसिद्ध जन भी होते महान्।।

महान् लक्ष्य पवित्र भाव हेतु, नहीं चाहिए सत्ता डिग्री संपत्ति।

महान् बनना आत्मा का स्वभाव, अतः 'कनक' की यह (ही) प्रवृत्ति।। (6)

उत्तम स्वात्म चिंता तो परचिंता अधमाधमा

(लय : शत-शत वंदन....., सायोनारा.....)

परम विकास हेतु स्वयं को जानो, गुण बढ़ाओं तथा दुर्गुण त्यागो।

आत्मविश्वास सह चिंतन करो, पर प्रपंच को सर्वथा त्यागो।।स्थायी।।

आत्म ज्ञान ध्यान व विशुद्धि से, पर परिणति के परित्याग से।

संकल्प-विकल्प संक्लेश नशते, आत्मिक गुण अनुभव होते।।

इसी से समता शांति अनुभव होती, आध्यात्मिक संतुष्टी प्रगट होती।

ज्ञानानंद का भी अनुभव होता, मानव जीवन भी सफल होता।।

पर प्रपंच से राग द्वेष होते, ईर्ष्या घृणा वैर भाव होते।

संकल्प विकल्प व संक्लेश होते, कलह विद्वेष व कष्ट होते।।

अस्थिर जल में प्रतिबिम्ब न दिखे, पर परिणति से आत्मा न दिखे।

गंदा जल में प्रतिबिम्ब न दिखे, अशुद्ध भाव से भी आत्मा न दिखे।।
ऐसी परिणति जब न होती संभव, मैत्री प्रमोद कारुण्य हो स्वभाव।

विश्व कल्याण की हो भावना, न हो संकीर्ण-स्वार्थ-भावना।।
इसी रीति से बनते केवली सिद्ध, इसी रीति से बनता है आत्म विशुद्ध।

यह है परम-आध्यात्मिक रहस्य, 'कनकनन्दी' का परम लक्ष्य।।

संकीर्ण व स्वार्थी मानव न मानते गुण-सज्जनों को भी

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., सायोनारा....., छोटी-छोटी गैया.....)

संकीर्ण पंथ-मत या भावानुसार, सही या गलत मानते (है मानव) स्वार्थानुसार।
सत्य-समता से न होता सरोकार, स्व-पर-विश्व हित हेतु न करते विचार।। (1)

क्रोध-मान-माया या लोभ प्रेरित, करते हैं हर कार्य स्वार्थ प्रेरित।

आहार-भय-मैथुन-परिग्रह सह, करते भाव-व्यवहार मोह युक्त।। (2)

धर्म-कर्म करते इन भाव से युक्त, पढ़ाई नौकरी राजनीति सहित।

कृषि-वाणिज्य या सेवा सहयोग, हित या अहित माने स्वार्थानुसार।। (3)

जिससे गुणी-अगुणी या ज्ञानी-अज्ञानी, हित-अहितकारी-सुभावी-दुर्भावी।

सच्चे-झूठे या सुगुरु-कुगुरु, स्वार्थानुसार मानते मानव अज्ञानी।। (4)

इसलिये तीर्थकर बुद्ध ईसा, सुकरात-मीरा या साधु-संत।

प्रताड़ित उपेक्षित होते अनादर युक्त, वैश्या चोर आतंकी भी होते आदर युक्त।। (5)

अच्छी वस्तु को सभी न करते आदर, मद्य-माँस तम्बाखू को भी खाते पामर।

अच्छे भाव-व्यवहार सभी नहीं करते, चोरी-ठगी हत्या बलात्कार भी करते।। (6)

सज्जन ज्ञानी-गुणी भी होते उपेक्षित, स्वार्थी मोही-अज्ञानी से होते अपेक्षित।

तथापि सज्जन ज्ञानी/(गुणी) न होते अयोग्य, 'कनक' को मान्य है गुणी व योग्य।।(7)

“आवश्यकता से अधिक : वर्चस्व व प्रसिद्धि हेतु अधिक पाप करते हैं नीच-मानव”

(चाल : आत्मशक्ति....., तुम दिल की.....)

भोजन पानी व वस्त्र निवास हेतु जितना पाप करते हैं मानव।

उससे भी अधिक वर्चस्व/(प्रसिद्धि) हेतु पाप करते हैं नीच मानव।। (ध्रुव)

वर्चस्व हेतु आक्रमण युद्ध लूट-पाट-हत्या बलात्कार करते।

सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि आडम्बर वर्चस्व हेतु मानव करते/(चाहते)।।

फैशन-व्यसन-दिखावा ढोंग, वर्चस्व हेतु भी मानव करते।

पढ़ाई नौकरी राजनीति तानाशाही वर्चस्व हेतु भी करते।। (1)

गाड़ी बंगला-यान-वाहन गृहोपकरण-वस्त्र-अलंकार।

विवाह उत्सव जन्म जयंती आदि वर्चस्व के भी है रूपांतर।।

धर्म से लेकर राजनीति तक वर्चस्व हेतु करते षडयंत्र।

परिवार समाज राष्ट्र-अंतराष्ट्र तक वर्चस्व हेतु (से) होते संत्रस्त।। (2)

वर्चस्व के कारण इन सभी क्षेत्रों में होते है धोखाधड़ी व लंदफंद।

वाद-विवाद व निन्दा फूट-लूट आक्रमण युद्ध व आतंकवाद।।

धर्म से लेकर राजनीति तक व्यक्ति से लेकर संगठन तक।

वर्चस्व हेतु परस्पर में होता वाद-विवाद से लेकर विनाश तक।। (3)

भरत-बाहुबली युद्ध से लेकर महाभारत के महायुद्ध तक।

वर्चस्व हेतु सिकन्दर के आक्रमण से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध तक।।

हर देश के राजाओं के युद्ध व व्यापारी कवि कलाकार विद्वान् तक।

हर धर्म-पंथ-मत विचार वाले वर्चस्व हेतु संघर्षरत।। (4)

इसी प्रकार प्रसिद्धि हेतु भी करते उपरोक्त अयोग्य काम।

वर्चस्व हेतु प्रसिद्धि चाहिए, प्रसिद्धि हेतु भी वर्चस्व के काम।।

इससे न सही विकास होता, शांति-संतुष्टी भी नहीं मिलती।

स्व-पर-विश्व को क्षति पहुँचती इह-परलोक में दुर्दशा होती।। (5)

इसी हेतु ही अनेक राजा-महाराजा सेठ-साहूकार (भी) बनते है निस्पृह साधु।

समस्त प्रकार वर्चस्व प्रसिद्धि त्यागकर आत्म साधना से बनते विभु।।

सर्वोच्च सफलता व सर्वोच्च प्रसिद्धि मिलती है आध्यात्मिक शांति से।

इसी उपलब्धि हेतु कनकनन्दी, वर्चस्व/(प्रसिद्धि) त्यागा है नवकोटि से।। (6)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 12.01.2016, रात्रि 7.43

धर्म परम सत्य-सर्व सुखकर होने पर भी धर्म से घृणादि क्यों?

(चाल : आत्मशक्ति....., भातुकली.....)

परम पावन व परम सत्य धर्म से भी क्यों करते हैं घृणा?

सर्वोदय व विश्व हितकर धर्म से, क्यों करते हैं मनमाना? (ध्रुव)

धर्म तो वस्तु स्वभाव है स्व-आत्म स्वभाव भी होता धर्म।

समता शांति व अहिंसा स्वरूप, होता है यथार्थ से धर्म॥

तथापि अधिकांश जन सही, धर्म को न जानते न मानते।

अंधश्रद्धा या स्वार्थवश हो, संकीर्ण कट्टरता से पालते॥ (1)

जिसके कारण वे अन्याय अत्याचार पापाचार भी करते हैं।

आक्रमण-युद्ध-हत्या-बलात्कार शोषण-आतंकवाद (आदि) करते हैं।

जिसके कारण अन्य कुछ लोग, धर्म को अच्छा न मानते हैं।

धर्म को मिथ्या आडम्बर ढोंग, भेदभाव कारक मानते हैं॥ (2)

भौतिक नैतिक राजनीति को, सच्चा व अच्छा मानते हैं।

सेवा-सहयोग-दान दयादि को, अच्छा मानकर पालते हैं॥

भौतिक आदि से परे/(श्रेष्ठ) है धर्म, सेवादि भी धर्म के अंग हैं।

स्व-अज्ञानता व धर्म विकृति से, धर्म से घृणा करते हैं॥ (3)

विद्यालय आदि में तो भौतिक, सेवादि का पाठ पढ़ते हैं।

राजनीति आदि में सेवा-सहयोग, आदि का भी पाठ पढ़ाते हैं॥

तथापि स्व-अज्ञानता (व) धर्म (की) विकृति या धार्मिक क्रियाकाण्डों से।

धर्म से करते हैं भेदभाव, घृणा व विरोध सभी में॥ (4)

ऐसा करके वे परम पावन, परम सत्य का विरोध करते।

स्व-पर विश्व के परम हित का, प्रत्यक्ष परोक्ष विरोधी बनते/(करते)॥

इसलिए सभी को सत्य धर्म का, यथार्थ परिज्ञान चाहिए।

स्व-पर-विश्व कल्याण हेतु, 'कनक' सत्यार्थ धर्म सेईए/(कीजिए)॥ (5)

ग.पु.कों., सागवाड़ा, दिनांक 10.01.2016, मध्याह्न 2.50

ईर्ष्यालु मानव जाति

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., सायोनारा.....)

बड़ी ही ईर्ष्यालु है मानव जाति...स्वयं को ईर्ष्या से जलाती रहती...
अन्य जले या नहीं भी जले...ईर्ष्याग्नि से स्वयं को स्वयं जलाती...(स्थायी)..
अन्य की प्रगति से ईर्ष्या करती...स्वयं जलती व दुःखी भी होती...
पाप कर्मों को भी खूब बांधती...इह-परलोक में दुःखी भी होती...
ईर्ष्या से घृणा-द्वेष-कलह करती...वाद-विवाद करे फूट डालती...
आक्रमण युद्ध व हत्या करती...इह-परलोक में दुर्दशा भोगती...(1)..
ईर्ष्या में अहंकार व क्रोध भी होता...माया सहित लोभ भी होता...
अनुदारता-कट्टरता व अरति होती...सभी के मिश्रण से ईर्ष्याग्नि जलती...
संकल्प-विकल्प व संक्लेश होता...विवेक नाश से अविवेक प्रगटता...
जिससे मानव करता उक्त अनर्थ...अप्रयोजनभूत पाप अनेक...(2)..
दूसरों की प्रगति व प्रशंसा ख्याति...सत्ता-संपत्ति व बुद्धि-प्रसिद्धि...
तप-त्याग सेवा व दान प्रवृत्ति...सहन न करती मानव जाति...
इसी से उत्तेजना व जलन बढ़ती...इन्द्रियों की शक्ति व बुद्धि घटती...
लीवर की खराबी व पथरी (अल्सर) होती...तन-मन-आत्मा में विकृति आती...(3)..
जिससे सर्वांगीण विकास न होता...दयनीय रूप से जीवन बीतता...
जो मानव इससे परे हो जाता...मानव से महामानव भगवान् होता...
प्रार्थना व पूजा में गुणगान करते...गुण-गुणी से ईर्ष्या भाव रखते...
यह है मानवों की नीच प्रवृत्ति...मुँह में राम नाम बगल में छूरी वृत्ति...(4)..
आगम व अनुभव से यह मैं लिखा/(पाया)...मनोविज्ञानों से यह मैं सीखा...
गुणग्राही गुणपूजक काम मैं पाया...'कनकनन्दी' को आध्यात्मिक ही भाया...(5)...

प्रशंसा पुण्य तो निन्दा पाप

(प्रशस्त गुण-गुणी के स्मरण-अनुमोदना-कथन-प्रशंसा
है तो इससे विपरीत निन्दा)

(चाल : जय हनुमान ज्ञान गुण सागर....., तुम दिल की.....)

प्रशंसा व निन्दा के स्वरूप को जानो, प्रशंसा पुण्य तो निन्दा पाप जानो।

प्रशस्त गुण-गुणी (के) कथन प्रशंसा, इससे विपरीत कथन (है) होती निन्दा॥ (1)

देवशास्त्रगुरु गुण-स्मरण-अनुमोदना, प्रमोद भाव से कथन होती प्रशंसा।

इसे ही कहते हैं पूजा-प्रार्थना, दर्शन-कीर्तन-स्तुति वन्दना॥ (2)

ऐसा ही अन्य धार्मिक सज्जन गुणी के, गुण स्मरण-अनुमोदना व प्रशंसा।

इसे ही कहते हैं प्रमोद भावना, सेवाभावी दानी परोपकारी की अनुमोदना॥ (3)

पंचाश्वर्य होते जो आहारदान में, सम्मान स्वागत होता समाज में।

प्रशस्तिपत्र पुरस्कारादि प्रदान, सब प्रशंसा के (होते) भेद विभिन्न॥ (4)

प्रशंसाकर्ता का भाव (भी होता) प्रशस्त, ईर्ष्या द्वेष घृणा से रहित अन्तः।

इसी से होता पुण्य बन्धन, प्रशंसनीय व्यक्ति को (भी) मिलता प्रोत्साहन॥ (5)

पुण्य-पाप भी होते नवकोटि से, मन-वच-काय व कृत-कारित से।

अनुमोदन सहित (होते) नव प्रकार, वज्रजंघ श्रीमती (के) आहारदान विचार॥ (6)

आहारदाता दोनों भी मोक्ष पधारे, आहार अनुमोदक आठों ही मोक्ष सिधारे।

ऐसे ही अन्य सभी प्रशस्त कार्य को, अनुमोदना-प्रशंसा के फल ही मिले॥ (7)

इसी से विपरीत निन्दा का फल, गुण-गुणी द्वेष से पाप प्रचुर।

सम्यक्त्व घात (होता) बंधता मोह, वाद-विवाद-संक्लेश/(निन्दा) कलह॥ (8)

श्रीपाल को कुष्ट हुआ इसी पाप से, सात सौ मित्रों को (कुष्ट) हुआ इसी पाप से।

‘पृष्ठ माँस भक्षी’ सम होते हैं निन्दक, स्वर्ग-मोक्ष पाते जो होते प्रशंसक॥ (9)

सुधार हेतु (जो) गुरु दोष कहते, वह न निन्दा, बहु उपकारी होते।

निन्दा को त्यागो (निन्दा से) शिक्षा पाओ, ‘कनकनन्दी’ को निज आत्मा ही भाये ॥ (10)

(भारतीयों की निन्दा-प्रवृत्ति व प्रशंसा को सही न समझने के कारण यह कविता बनी॥)

सन्दर्भ-

सगणे व परगणे वा परपरिवादां च मा करेज्जाह।

अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरु य।। (भ.आ.) 371

अपने गण में या दूसरे गण में दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। अति आसादना से विरत रहो, सदा पाप से डरो।

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ।

परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा।। (372)

पर निन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुता को करती है, पाप रूप है, दुर्भाग्य को लाती है और सज्जनों को अप्रिय है।

किच्चा परस्स णिदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।

सो इच्छदि आरोगं परम्मि कडुओसहे पीए।। (373)

जो पर की निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है वह दूसरे के द्वारा कड़वी औषधि पीने पर अपनी निरोगता चाहता है अर्थात् जैसे दूसरे के औषधि पीने पर आप निरोग नहीं हो सकता है। वैसे ही दूसरे की निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता।

दट्टूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।

रक्खइ य सयं दोसंव तयं जणजंपणभएण।। (374)

सत्पुरुष दूसरों के दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है। लोकापवाद के भय से वह अपनी तरह दूसरों के भी दोष को छिपाता है।

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चव आयरिओ।

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो।। (496)

यदि आचार्य अपने शिष्यों को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हैं तो इन अपुष्ट धर्म वाले श्रमणों को धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे।

उच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स।

पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स।। (497)

जो आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे शिष्य के द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य गुप्त रखने वाला अपरिश्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते।

मृषावाद (असत्य, निन्दादि)

मृषावाद का स्वरूप

44-जंबू! बिइयं अलियवयणं लहुसग-लहुचवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकरं अरइ-रइ-रागदोस-मणसंकिलेस-वियरणं अलियणियडिसाइजोयबहुलं पीयजणणिसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारं परमकिण्हलेस्ससेवियं दुग्गइविणिवायविवद्दणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचिय-मणुगयं दुरंतं कित्तियं बिइयं अहम्मदरं।

44-जम्बू! दूसरा (आस्रव द्वार) अलीकवचन अर्थात् मिथ्या भाषण है। यह गुण-गौरव से रहित, हल्के, उतावले और चंचल लोगों द्वारा बोला जाता है, (स्व एवं पर के लिए) भय उत्पन्न करने वाला, दुःखोत्पादक, अपयशकारी एवं वैर उत्पन्न करने वाला है। यह अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक संक्लेश को देने वाला है। शुभ फल से रहित है। धूर्तता एवं अविश्वसनीय वचनों की प्रचुरता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशंस, क्रूर अथवा निन्दित है। अप्रतीतिकारक है-विश्वसनीयता का विघातक है। उत्तम साधुजनों-सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है। दूसरों को-जिनसे असत्य भाषण किया जाता है, उनको पीड़ा उत्पन्न करने वाला है। उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या से सहित है अर्थात् कृष्ण लेश्या वाले लोग इसका प्रयोग करते हैं। यह दुर्गतियों में निपात को बढ़ाने वाला-वारंवार दुर्गतियों में ले जाने वाला है। भव-पुनर्भव करने वाला अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है। यह चिर-परिचित है-अनादि काल से जीव इसके अभ्यासी हैं। निरंतर साथ रहने वाला है और बड़ी कठिनाई से इसका अंत होता है अथवा इसका परिणाम अतीव अनिष्ट होता है।

विवेचन-प्राणवध नामक प्रथम आस्रव द्वार के विवेचन के पश्चात् दूसरे आस्रव द्वार का विवेचन यहाँ से प्रारंभ किया गया है। श्री सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को लक्ष्य करके यह प्ररूपणा की है।

अलीक वचनों का स्वरूप समझाने के लिए उसे अनेकानेक विशेषणों से युक्त प्रकट किया गया है।

असत्य वचनों का प्रयोग ऐसे मनुष्य ही करते हैं जिनमें गुणों की गरिमा नहीं होती, जो क्षुद्र, हीन, तुच्छ या टुच्चे होते हैं। जो अपने वचनों का स्वयं ही मूल्य नहीं जानते, जो उतावल में सोचे-समझे बिना ही बोलते हैं और जिनकी प्रकृति में

चंचलता होती है। इस प्रकार विचार किए बिना चंचलतापूर्वक जो वचन बोले जाते हैं, वे स्व-पर के लिए भयंकर सिद्ध होते हैं। उनके फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। अतएव साधुजन-सत्पुरुष असत्य का कदापि सेवन नहीं करते। वे सुविचारित सत्य-तथ्य का ही प्रयोग करते हैं और वह भी ऐसा कि जिससे किसी को पीड़ा न हो, क्योंकि पीड़ाजनक वचन तथ्य होकर भी सत्य नहीं कहलाता।

असत्यभाषी को इस भव में निन्दा और तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता है। असत्य भाषण करके जिन्हें धोखा दिया जाता अथवा हानि पहुँचाई जाती है, उनके साथ वैर बंध जाता है और कभी-कभी उस वैर की परंपरा अनेकानेक भवों तक चलती रहती है। असत्यभाषी के अंतर में यदि स्वल्प की उज्ज्वलता का अंश होता है तो उसके मन में भी संक्लेश उत्पन्न होता है। जिसे ठगा जाता है उसके मन में तो संक्लेश होता ही है।

असत्यभाषी को अपनी प्रामाणिकता प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार के जाल रचने पड़ते हैं, धूर्तता कपट का आश्रय लेना पड़ता है। यह क्रूरता से परिपूर्ण है। नीच लोग ही असत्य का आचरण करते हैं। साधुजनों द्वारा निन्दनीय है। परपीड़ाकारी है। कृष्ण लेश्या से समन्वित है।

असत्य दुर्गति में ले जाता है और संसार-परिभ्रमण की वृद्धि करने वाला है।

असत्यभाषी अपने असत्य को छिपाने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, अंत में प्रकट हो जाता है। जब प्रकट हो जाता है तो असत्यभाषी की सच्ची बात पर भी कोई विश्वास नहीं करता। वह अप्रतीति का पात्र बन जाता है।

‘परपीलाकारगं’ कहकर शास्त्रकार ने असत्य एक प्रकार की हिंसा का ही रूप है, यह प्रदर्शित किया है।

मृषावाद के नामान्तर

45-तस्स य णामाणि गोण्णाणि होति तीसं। तं जहा-

1. अलियं, 2. सढं, 3. अणज्जं, 4. मायामोसो, 5. असंतगं, 6. कूडकवडमवत्थुगं च, 7. गिरस्थयमवत्थयं, 8. विद्देसगरहणिज्जं, 9. अणुज्जुगं, 10. कक्कणा य, 11. वंचणा य, 12. मिच्छापच्छाकडं च, 13. साई उ, 14. उच्छण्णं, 15. उक्कूलं च, 16. अट्टं, 17. अब्भक्खाणं च, 18. किच्चिसं, 19. वलयं, 20. गहणं च, 21. मम्मणं च, 22. णूमं, 23. गिययी, 24. अपच्चओ, 25. असमओ,

26. असच्चसंधत्तण, 27. विवक्खो, 28. अवहीयं, 29. उवहिश्रसुद्धं, 30. अवलोवोत्ति।

अवि य तस्स एयाणि एवमाइयाणि गामधेज्जाणि होति तीसं, सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं।

45-उस असत्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं-

1. अलीक, 2. शठ, 3. अन्याय्य (अनार्य), 4. माया-मृषा, 5. असत्क, 6. कूटकपटअवस्तुक, 7. निरर्थकअपार्थक, 8. विद्वेष-गर्हणीय, 9. अनुजुक, 10. कल्कना, 11. वञ्चना, 12. मिथ्यापश्चात्कृत, 13. साति, 14. उच्छन्न, 15. उत्कूल, 16. आर्त, 17. अभ्याख्यान, 18. किल्बिष, 19. वलय, 20. गहन, 21. मन्मन, 22. नूम, 23. निकृति, 24. अप्रत्यय, 25. असमय, 26. असत्यसंधत्व, 27. विपक्ष, 28. अपधीक, 29. उपधि-अशुद्ध, 30. अपलोप।

सावद्य (पापयुक्त) अलीक वचनयोग के उल्लिखित तीस नामों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नाम हैं।

विवेचन-प्रस्तुत पाठ में असत्य के तीस सार्थक नामों का उल्लेख किया गया है। अंत में यह निर्देश भी कर दिया गया है कि अलीक के इन तीस नामों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक नाम हैं।

असत्य के तीस नामों का उल्लेख करके सूत्रकार ने असत्य के विविध प्रकारों को सूचित किया है, अर्थात् किस-किस प्रकार के वचन असत्य के अंतर्गत हैं, यह प्रकट किया है। उल्लिखित नामों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

1. **अलीक**-झूठ, मिथ्यावचन।

2. **शठ**-धूर्त, मायावी जनों द्वारा आचरित।

3. **अनार्य (अन्याय्य)**-अनार्य पुरुषों का वचन होने से अनार्य है अथवा अन्याययुक्त है।

4. **माया-मृषा**-माया रूप कषाय से युक्त और मृषा होने से इसे माया-मृषा कहा जाता है।

5. **असत्क**-असत् पदार्थ को कहने वाला।

6. **कूट-कपट**-अवस्तुक-दूसरों को ठगने से कूट, भाषा का विपर्यास होने से कपट, तथ्य-वस्तुशून्य होने से अवस्तुक है।

7. **निरर्थक**-अपार्थक-प्रयोजनहीन होने के कारण निष्प्रयोजन और सत्यहीन होने से अपार्थक है।

8. **विद्वेष**-गर्हणीय-विद्वेष और निन्दा का कारण।

9. **अनृजुक**-कुटिलता-सरलता का अभाव, वक्रता से युक्त।

10. **कल्कना**-मायाचारमय।

11. **वञ्चना**-दूसरों को ठगने का कारण।

12. **मिथ्यापश्चात्कृत**-न्यायी पुरुष झूठा समझकर पीछे कर देते हैं, अतः मिथ्यापश्चात्कृत है।

13. **साति**-अविश्वास का कारण।

14. **उच्छन्न**-स्वकीय दोषों और परकीय गुणों का आच्छादक। इसे 'अपच्छन्न' भी कहते हैं।

15. **उत्कूल**-सन्मार्ग की मर्यादा से अथवा न्याय रूपी नदी के तट से गिराने वाला।

16. **आर्त्त**-पाप से पीड़ित जनों का वचन।

17. **अभ्याख्यान**-दूसरे में अविद्यमान दोषों को कहने वाला।

18. **किल्बिष**-पाप या पाप का जनक।

19. **वलय**-गोलमोल-टेढा-मेढा, चक्करदार वचन।

20. **गहन**-जिसे समझना कठिन हो, जिस वचन से असलियत का पता न चले।

21. **मन्मन**-स्पष्ट न होने के कारण, अस्पष्ट वचन।

22. **नूम**-सच्चाई को ढकने वाला।

23. **निकृति**-किए हुए मायाचार को छिपाने वाला वचन।

24. **अप्रत्यय**-विश्वास का कारण न होने से या अविश्वासजनक होने से अप्रत्यय है।

25. **असमय**-सम्यक् आचार से रहित।

26. **असत्यसंधता**-झूठी प्रतिज्ञाओं का कारण।

27. **विपक्ष**-सत्य और धर्म का विरोधी।

28. **अपधीक**-निन्दित मति से उत्पन्न।

29. उपधि-अशुद्ध-मायाचार से अशुद्ध।

30. अवलोप-वस्तु के वास्तविक स्वरूप का लोपक।

विवेचन-इन तीस नामों से असत्य के विविध रूपों का एवं उसकी व्यापकता का पता चलता है।

मृषावादी

46-तं च पुण वयंति केई अलियं पावा असंजया अविरया कवडकुडिल-कडुयचडुलभावा कुद्धा सुद्धा भया य हस्सड्डिया य सक्खी चोरा चारभडा खंडरक्खा जियजूयकरा य गहियगहणा कक्ककुरुगकारगा, कुलिंगी उवहिया वाणियगा य कूडतुलकूडमाणी कूडकाहावणोवजीविया पडगारका, कलाया, कारुइज्जा वंचणपरा चारियचाडुयार-णगरगुत्तिय-परिचारगा दुडुवाइसूयगअणबलभणिया य पुव्व-कालियवयणदच्छा साहसिया लहुस्सगा असच्चा गारविया असच्चट्टावणाहिचित्ता उच्चच्छंदा अणिग्गहा अणियत्ता छंदेणमुक्कवाया भवंति अलियाहिं जे अविरया।

46-यह असत्य कितनेक पापी, असंयत-संयमहीन, अविरत-सर्वविरति और देशविरति से रहित, कपट के कारण कुटिल, कटुक और चंचल चित्त वाले, क्रुद्ध-क्रोध से अभिभूत, लुब्ध-लोभ के वशीभूत, स्वयं भयभीत और अन्य को भय उत्पन्न करने वाले, हँसी-मजाक करने वाले, झूठी गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर-जासूस, खण्डरक्ष-राजकर लेने वाले-चुंगी वसूल करने वाले, जुआ में हारे हुए-जुआरी, गिरवी रखने वाले-गिरवी के माल को हजम करने वाले, कपट से किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहने वाले, मिथ्या मत वाले कुलिंगी-वेषधारी, छल करने वाले, बनिया-वणिक्, खोटा नापने-तोलने वाले, नकली सिक्कों से आजीविका चलाने वाले, जुलाहे, सुनार-स्वर्णकार, कारीगर, दूसरों को ठगने वाले, दलाल, चाटुकार-खुशामदी, नगररक्षक, मैथुन-सेवी-स्त्रियों को बहकाने वाले, खोटा पक्ष लेने वाले, चुगलखोर, उत्तमर्ण-साहूकार के ऋण संबंधी तकाजे से दबे हुए अधमर्ण-कर्जदार, किसी के बोलने से पूर्व ही उसके अभिप्राय को ताड़ लेने वाले, साहसिक-सोच-विचार किए बिना ही प्रवृत्ति करने वाले, निस्सत्त्व-अधम, हीन, सत्पुरुषों का अहित करने वाले-दुष्ट जन, अहंकारी, असत्य की स्थापना में चित्त को लगाए रखने वाले, अपने को उत्कृष्ट बताने वाले, निरंकुश, नियमहीन और बिना विचारे यद्वा-तद्वा बोलने वाले लोग, जो असत्य से विरत नहीं हैं, वे (असत्य) बोलते हैं।

विवेचन-मूल पाठ अपने आप में ही स्पष्ट है। इस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

असत्यभाषी जनों का यहाँ उल्लेख किया गया है। असत्य भाषण वही करते हैं जो संयत और विरत नहीं होते। जिनका जीवन संयमशील है और जो पापों से विरत हैं, असत्य उनके निकट भी नहीं फटकता।

असत्य के मूलतः चार कारण हैं-क्रोध, लोभ, भय और हास्या। क्रोध से अभिभूत मानव विवेक-विचार से विहीन हो जाता है। उसमें एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न हो जाता है। तब वह सत्य-असत्य के भान से रहित होकर कुछ भी बोल जाता है। लोभ से ग्रस्त मनुष्य असत्य का सेवन करने से परहेज नहीं करता। लोभ से अंधा आदमी असत्य सेवन को अपने साध्य की सिद्धि का अचूक साधन मानता है। भय से पीड़ित लोग भी असत्य का आश्रय लेकर अपने दुष्कर्म के दंड से बचने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें यह समझ नहीं होती कि कृत दुष्कर्म पर पर्दा डालने के लिए असत्य का सहारा लेने से दुष्कर्म गुरुतर बन जाता है। हँसी-मजाक में असत्य का प्रयोग साधारण समझा जाता है। कहना चाहिए कि असत्य हास्य-विनोद का मूलाधार है। किन्तु विवेकी पुरुष ऐसे हँसी-मजाक से बचते हैं, जिसके लिए असत्य का आश्रय लेना पड़े।

झूठी साक्षी स्पष्ट असत्य है। किन्तु आजकल के न्यायालयों में यह बहुप्रचलित है। कतिपय लोगों ने इसे धंधा बना लिया है। कुछ रुपये देकर उनसे न्यायालयों में चाहे जो कहलवाया जा सकता है। ऐसे लोगों को भविष्य के दुष्परिणामों का ध्यान नहीं होता कि असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कहने से आगे कैसी दुर्दशा भोगनी पड़ेगी।

चोरी करने वाले, जुआ खेलने वाले, व्यभिचारी, स्त्रियों को बहका कर उड़ा ले जाने वाले और चकला चलाने वाले लोग असत्य का सेवन किए बिना रह ही नहीं सकते।

मिथ्या मतों को मानने वाले और त्यागियों के नाना प्रकार के वेष धारण करने वाले भी असत्यभाषी हैं। इनके विषय में आगे विस्तार से प्रतिपादन किया जाएगा।

कर्जदार को भी असत्य भाषण करना पड़ता है। जब उत्तमर्ण या साहूकार ऋण वसूलने के लिए तकाजे करता है और कर्जदार चुकाने की स्थिति में नहीं होता तो, एक सप्ताह में ढूँगा, एक मास में चुका ढूँगा, इत्यादि झूठे वायदे करता है। अतएव सद्गृहस्थ को इस असत्य से बचने के लिए ऋण न लेना ही सर्वोत्तम है। अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके आय को देखते हुए ही व्यय करना चाहिए।

कदाचित् किसी से कभी उधार लेना ही पड़े तो उतनी ही मात्रा में लेना चाहिए, जिसे सरलतापूर्वक चुकाना असंभव न हो और जिसके कारण असत्य न बोलना पड़े-अप्रतिष्ठा न हो।

जुलाहे, सुनार, कारीगर, वणिक् आदि धंधा करने वाले सभी असत्यभाषी होते हैं, ऐसा नहीं है। शास्त्रकार ने मूल में 'केई' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है।

इसी प्रकार मूल पाठ में उल्लिखित अन्य विशेषणों के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि असत्य के पाप से बचने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए।

ये सब एकांत मृषावाद हैं। वास्तव में काल, स्वभाव, नियति, देव और पुरुषार्थ, सभी यथायोग्य कार्यसिद्धि के सम्मिलित कारण हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कार्यसिद्धि एक कारण से नहीं, अपितु सामग्री-समग्र कारणों के समूह-से होती है। काल आदि एक-एक कारण अपूर्ण कारक होने से सिद्धि के समर्थ कारण नहीं हैं। कहा गया है-

कालो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।

मिच्छत्तं, ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं।।

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (दैव-विधि) और पुरुषकार को एकांत कारण मानना अर्थात् इन पाँच में से किसी भी एक को कारण स्वीकार करना और शेष को कारण न मानना मिथ्यात्व है। ये सब मिलकर ही यथायोग्य कारण हैं, ऐसी मान्यता ही सम्यक्तव है।

झूठा दोषारोपण करने वाले निंदक

51-अवरे अहम्मओ रायदुट्ठं अब्भक्खाणं भणंति अलियं चोरोत्ति अचोरयं करेत्तं, डामरिउत्ति वि य एमेव उदासीणं, दुस्सीलोत्ति य परदारं गच्छइत्ति मइलित्ति सीलकलियं, अयं वि गुरुत्तप्पओ त्ति। अण्णे एमेवभणंति उवाहणंता मित्तकलत्ताइं सेवन्ति अयं वि लुत्तधम्मो, इमोवि विस्संभवाइओ पावकम्मकारी अगम्मगामी अयं दुरप्पा बहुएसु य पावगेसु जुत्तोत्ति एवं जंपंति मच्छरी। भद्दगे वा गुणकित्ति-णेह-परलोय-णिप्पिवासा। एवं ते अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणप्पसत्ता वेढेंति अक्खाइयबीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण मुहरी असमिक्खियप्पलावा।

51-कोई-कोई दूसरे लोग राज्य विरुद्ध मिथ्या दोषारोपण करते हैं। यथा-चोरी न करने वाले को चोर कहते हैं। जो उदासीन है-लड़ाई-झगड़ा नहीं करता, उसे

लड़ाईखोर या झगड़ालू कहते हैं। जो सुशीलहै-शीलवान् है, उसे दुःशील-व्यभिचारी कहते हैं, यह परस्त्रीगामी है, ऐसा कहकर उसे मलिन करते हैं-बदनाम करते हैं। उस पर ऐसा आरोप लगाते हैं कि यह तो गुरुपत्नी के साथ अनुचित संबंध रखता है। कोई-कोई किसी की कीर्ति अथवा आजीविका को नष्ट करने के लिए इस प्रकार मिथ्यादोषारोपण करते हैं कि-यह अपने मित्र की पत्नियों को सेवन करता है। यह धर्महीन-अधार्मिक है, यह विश्वासघाती है, पाप कर्म करता है, नहीं करने योग्य कृत्य करता है, यह अगम्यगामी है अर्थात् भगिनी, पुत्रवधू आदि अगम्य स्त्रियों के साथ सहवास करता है, यह दुष्टात्मा है, बहुत-से पाप कर्मों को करने वाला है। इस प्रकार ईर्ष्यालु लोग मिथ्या प्रलाप करते हैं। भद्र पुरुष के परोपकार, क्षमा आदि गुणों की तथा कीर्ति, स्नेह एवं परभव की लेशमात्र परवाह न करने वाले वे असत्यवादी, असत्य भाषण करने में कुशल, दूसरों के दोषों को (मन से घड़कर) बताने में निरत रहते हैं। वे विचार किए बिना बोलने वाले, अक्षय दुःख के कारणभूत अत्यंत दृढ़ कर्म बंधनों से अपनी आत्मा को वेष्टित-बद्ध करते हैं।

विवेचन-प्रस्तुत पाठ में ऐसे लोगों को दिग्दर्शन कराया गया है जो ईर्ष्यालु हैं और इस कारण दूसरों की यशकीर्ति को सहन नहीं कर सकते। किसी की प्रतिष्ठा वृद्धि देखकर उन्हें घोर कष्ट होता है। दूसरों के सुख को देखकर जिन्हें तीव्र दुःख का अनुभव होता है। ऐसे लोग भद्र पुरुषों को अभद्रता से लांछित करते हैं। तटस्थ रहने वाले को लड़ाई-झगड़ा करने वाला कहते हैं। जो सुशील-सदाचारी हैं, उन्हें वे कुशील कहने में संकोच नहीं करते। उनकी धृष्टता इतनी बढ़ जाती है कि वे उन सदाचारी पुरुषों को मित्र-पत्नी का अथवा गुरुपत्नी का-जो माता की कोटि में गिनी जाती है-सेवन करने वाला तक कहते नहीं हिचकते। पुण्यशील पुरुष को पापी कहने की धृष्टता करते हैं। ऐसे असत्य भाषण में कुशल, डाह से प्रेरित होकर किसी को कुछ भी लाँछन लगा देते हैं। उन्हें यह विचार नहीं आता कि मुझे परलोक में जाना है और इस मृषावाद का दुष्परिणाम भुगतना पड़ेगा। ऐसे लोग दूसरों को लांछित करके, उन्हें अपमानित करके, उनकी प्रतिष्ठा को मलीन करके भले ही क्षणिक संतोष का अनुभव कर लें, किन्तु वे इस पापाचरण के द्वारा ऐसे घोरतर पापकर्मों का संचय करते हैं जो बड़ी कठिनाई से भोगे बिना नष्ट नहीं हो सकते। असत्यवादी को भविष्य में होने वाली यातनाओं से बचाने की सद्भावना से शास्त्रकार ने मृषावाद के अनेक प्रकारों को यहाँ उल्लेख किया है और आगे भी करेंगे।

लोभजन्य अनर्थकारी झूठ

52-णिक्खेवे अवहरंति परस्स अत्थम्मि गढियगिद्धा अभिजुंजंति य परं असंतएहिं। लुद्धा य करेति कूडसक्खित्तणं असच्चा अत्थालियं च कण्णालियं च भोमालियं च तह गवालियं च गरुयं भणंति अहरगइगमणं। अण्णं पि य जाइरूवकुलसीलपच्चयं मायाणिउणं चवलपिसुणं परमट्ठभेयगमसंतगं विदेसमणत्थकाराणं पावकम्ममूलं दुद्धिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं णिल्लज्जं लोयगरहणिज्जं वहबंधपरिकिलेसबहुल जरामरणदुक्खसोयणिम्मं असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति।

52-पराये धन में अत्यंत आसक्त वे (मृषावादी लोभी) निक्षेप (धरोहर) को हड़प जाते हैं तथा दूसरे को ऐसे दोषों से दूषित करते हैं जो दोष उनमें विद्यमान नहीं होते। धन के लोभी झूठी साक्षी देते हैं। वे असत्यभाषी धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के लिए तथा गाय-बैल आदि पशुओं के निमित्त अधोगति में ले जाने वाला असत्य भाषण करते हैं। इसके अतिरिक्त वे मृषावादी जाति, कुल, रूप एवं शील के विषय में असत्य भाषण करते हैं। मिथ्या षड्यंत्र रचने में कुशल, परकीय असद्गुणों के प्रकाशक, सद्गुणों के विनाशक, पुण्य-पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ, असत्याचरण-परायण लोग अन्यान्य प्रकार से भी असत्य बोलते हैं। वह असत्य माया के कारण गुणहीन है, चपलता से युक्त है, चुगलखोरी (पैशुन्य) से परिपूर्ण है, परमार्थ को नष्ट करने वाला, असत्य अर्थ वाला अथवा सत्त्व से हीन, द्वेषमय, अप्रिय, अनर्थकारी, पापकर्मी का मूल एवं मिथ्यादर्शन से युक्त है। वह कर्णकटु, सम्यग्ज्ञानशून्य, लज्जाहीन, लोकगर्हित, वध-बंधन आदि रूप क्लेशों से परिपूर्ण, जरा, मृत्यु, दुःख और शोक का कारण है, अशुद्ध परिणामों के कारण संक्लेश से युक्त है।

विवेचन-प्रकृत पाठ में भी असत्य भाषण के अनेक निमित्तों का उल्लेख किया गया है और साथ ही असत्य की वास्तविकता अर्थात् असत्य किस प्रकार का होता है, यह दिखलाया गया है।

धन के लिए असत्य भाषण किया जाता है, यह तो लोक में सर्वविदित है। किन्तु धन-लोभ के कारण अंधा बना हुआ मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि वह परकीय धरोहर को हड़प कर मानो उसके प्राणों को ही हड़प जाता है।

इस पाठ में चार प्रकार के असत्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है- (1) अर्थालीक, (2) भूम्यलीक, (3) कन्यालीक और (4) गवालीक। इनका अर्थ इस प्रकार है-

1. अर्थालीक-अर्थ अर्थात् धन के लिए बोला जाने वाला अलीक (असत्य)। धन शब्द से यहाँ सोना, चाँदी, रुपया, पैसा, मणि, मोती आदि रत्न, आभूषण आदि भी समझ लेना चाहिए।

2. भूम्यलीक-भूमि प्राप्त करने के लिए या बेचने के लिए असत्य बोलना। अच्छी उपजाऊ भूमि को बंजर कह देना अथवा बंजर भूमि को उपजाऊ भूमि कहना, आदि।

3. कन्यालीक-कन्या के संबंध में असत्य भाषण करना, सुंदर सुशील कन्या को असुंदर या दुश्शील कहना और दुश्शील को सुशील कहना, आदि।

4. गवालीक-गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि पशुओं के संबंध में असत्य बोलना।

चारों प्रकार के असत्यों में उपलक्षण से समस्त अपद, द्विपद और चतुष्पदों का समावेश हो जाता है।

संसारी जीव एकेन्द्रिय पर्याय में अनंतकाल तक लगातार जन्म-मरण करता रहता है। किसी प्रबल पुण्य का उदय होने पर वह एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर निकलता है। तब उसे जिह्वा इन्द्रिय प्राप्त होती है और बोलने की शक्ति आती है। इस प्रकार बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाने पर भी सोच-विचार कर सार्थक भावात्मक शब्दों का प्रयोग करने का सामर्थ्य तो तभी प्राप्त होता है जब प्रगाढ़तर पुण्य के उदय से जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय दशा प्राप्त करे। इनमें भी व्यक्त वाणी मनुष्य-पर्याय में ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि अनंत पुण्य की पूँजी से व्यक्त वाणी बोलने का सामर्थ्य हम प्राप्त करते हैं। इतनी महर्घ्य शक्ति का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब हम स्व-पर के हिताहित का विचार करके सत्य, तथ्य, प्रिय भाषण करे और आत्मा को मलीन-पाप की कालिमा से लिप्त करने वाले वचनों का प्रयोग न करें।

मूल पाठ में **पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं** पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि जिस बात को, जिस घटना को हमने अच्छी तरह देखा न हो, जिसके विषय में प्रामाणिक पुरुष से सुना न हो और जिसे सम्यक् प्रकार से जाना न हो, उसके विषय में अपना अभिमत प्रकट कर देना-अप्रमाणित को प्रमाणित कर देना भी असत्य है। यह असत्य पाप का मूल है।

स्मरण रखना चाहिए कि तथ्य और सत्य में अंतर है। सत्य की व्युत्पत्ति है-सद्भ्यो हितम् सत्यम्, अर्थात् सत्पुरुषों के लिए जो हितकारक हो, वह सत्य है।

कभी-कभी कोई वचन तथ्य होने पर भी सत्य नहीं होता। जिस वचन से अनर्थ उत्पन्न हो, किसी के प्राण संकट में पड़ते हो, जो वचन हिंसाकारक हो, ऐसे वचनों का प्रयोग सत्य भाषण नहीं है। सत्य की कसौटी अहिंसा है। जो वचन अहिंसा का विरोधी न हो, किसी के लिए अनर्थजनक न हो और हितकर हो, वही वास्तव में सत्य में परिगणित होता है।

जो वचन परमार्थ के भेदक हो-मुक्तिमार्ग के विरोधी हैं, कपटपूर्वक बोले जाते हैं, जो निर्लज्जतापूर्ण हैं और लोक में गर्हित हैं-सामान्य जनों द्वारा भी निन्दित हैं, सत्यवादी ऐसे वचनों का भी प्रयोग नहीं करता।

उभय-घातक

53-अलियाहिसंधि-सण्णिविट्ठा असंतगुणुदीरया य संतगुणणासगा य हिंसाभूओवधाइयं अलियं संपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अहम्मजणणं मण्णति, अणभियय-पुण्णपावा पुणो वि अहिगरण-किरिया-पवत्तगा बहुविहं अणत्थं अवमहं अप्पणो परस्स य करेति।

53-जो लोग मिथ्या अभिप्राय-आशय में सन्निविष्ट हैं-असत् आशय वाले हैं, जो असत्-अविद्यमान गुणों की उदीरणा करने वाले-जो गुण नहीं है उनका होना कहने वाले, विद्यमान गुणों के नाशक-लोपक हैं-दूसरों में मौजूद गुणों को आच्छादित करने वाले हैं, हिंसा करके प्राणियों का उपघात करते हैं, जो असत्य भाषण करने में प्रवृत्त हैं, ऐसे लोग सावद्य-पापमय, अकुशल-अहितकर, सत्पुरुषों द्वारा गर्हित और अधर्मजनक वचनों का प्रयोग करते हैं। ऐसे मनुष्य पुण्य और पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं। वे पुनः अधिकरणों अर्थात् पाप के साधनों-शस्त्रों आदि की क्रिया में-शस्त्र निर्माण आदि पापोत्पादक उपादानों को बनाने, जुटाने, जोड़ने आदि की क्रिया में प्रवृत्ति करने वाले हैं, वे अपना और दूसरों का बहुविध-अनेक प्रकार से अनर्थ और विनाश करते हैं।

विवेचन-जिनका आशय ही असत्य से परिपूर्ण होता है, वे अनेकानेक प्रकार से सत्य को ढँकने और असत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे अपने और अपना जिन पर रागभाव है ऐसे स्नेही जनों में जो गुण नहीं हैं, उनका होना कहते हैं और द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे में जो गुण विद्यमान हैं, उनका अभाव प्रकट करने में संकोच नहीं करते। ऐसे लोग हिंसाकारी वचनों का प्रयोग करते भी नहीं हिचकते।

प्रस्तुत पाठ में एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया गया है कि मृषावादी असत्य भाषण करके पर का ही अहित, विनाश या अनर्थ नहीं करता किन्तु अपना भी अहित, विनाश और अनर्थ करता है। मृषावाद के पाप के सेवन करने का विचार मन में जब उत्पन्न होता है तभी आत्मा मलीन हो जाता है और पापकर्म का बंध करने लगता है। मृषावाद करके, दूसरे को धोखा देकर कदाचित् दूसरे का अहित कर सके अथवा न कर सके, किन्तु पापमय विचार एवं आचार से अपना अहित तो निश्चित रूप से कर ही लेता है। अतएव अपने हित की रक्षा के लिए भी मृषावाद का परित्याग आवश्यक है।

पाप का परामर्श देने वाला

54-इसी प्रकार (स्व-पर का अहित करने वाले मृषावादी जन) घातकों को भैंसा और शूकर बतलाते हैं, वागुरिकों-व्याधों को-शशक-खरगोश, पसय-मृगविशेष या मृगशिशु और रोहित बतलाते हैं, तीतुर, वतक और लावक तथा कपिंजल और कपोत-कबूतर पक्षीघातकों-चिड़ीमारों को बतलाते हैं, झष-मछलियाँ, मगर और कछुआ मच्छीमारों को बतलाते हैं, शंख (द्विन्द्रिय जीव), अंक-जल-जंतु विशेष और क्षुल्लक-कौड़ी के जीव धीवरों को बतला देते हैं, अजगर, गोणस, मंडली एवं दर्वीकर जाति के सर्पों को तथा मुकुली-बिना फन के सर्पों को सपेरों को-साँप पकड़ने वालों को बतला देते हैं, गोधा, सेह, शल्लकी और सरट-गिरगिट लुब्धकों को बतला देते हैं, गजकुल और वानरकुल अर्थात् हाथियों और बंदरों के झुंड पाशिकों-पाश द्वारा पकड़ने वालों को बतलाते हैं, तोता, मयूर, मैना, कोकिला और हंस के कुल तथा सारस पक्षी पोषकों-इन्हें पकड़कर, बंदी बनाकर रखने वालों को बतला देते हैं। आरक्षकों-कारागार आदि के रक्षकों को वध, बंध और यातना देने के उपाय बतलाते हैं। चोरों को धन, धान्य और गाय-बैल आदि पशु बतला कर चोरी करने की प्रेरणा करते हैं। गुप्तचरों को ग्राम, नगर, आकर पतन आदि बस्तियाँ (एवं उनके गुप्त रहस्य) बतलाते हैं। ग्रंथिभेदकों-गाँठ काटने वालों को रास्ते के अंत में अथवा बीच में मारने-लूटने-टांठ काटने आदि की सीख देते हैं। नगररक्षकों-कोतवाल आदि पुलिसकर्मियों को की हुई चोरी का भेद बतलाते हैं। गाय आदि पशुओं का पालन करने वालों को लाँछन-कान आदि काटना, या निशान बनाना, नपुंसक-वधिया करना, धमण-भैंस आदि के शरीर में हवा भरना (जिससे वह दूध अधिक दे), दुहना, पोषना-जौ आदि खिलाकर पुष्ट करना, बछड़े को दूसरी गाय के साथ लगाकर गाय को

धोखा देना अर्थात् वह गाय दूसरे के बछड़े को अपना समझकर स्तनपान कराए, ऐसी भ्रांति में डालना, पीड़ा पहुँचाना, वाहन गाड़ी आदि में जोतना, इत्यादि अनेकानेक पापपूर्ण कार्य कहते या सिखलाते हैं। इसके अतिरिक्त (वे मृषावादी जन) खान वालों को गैरिक आदि धातुएँ बतलाते हैं, चंद्रकांत आदि मणियाँ बतलाते हैं, शिलाप्रबाल-मूंगा और अन्य रत्न बतलाते हैं। मालियों को पुष्पों और फलों के प्रकार बतलाते हैं तथा वनचरों-भील आदि वनवासी जनों को मधु का मूल्य और मधु के छत्ते बतलाते हैं अर्थात् मधु का मूल्य बतलाकर उसे प्राप्त करने की तरकीब सिखाते हैं।

विवेचन-पूर्व में बतलाया गया था कि मृषावादी जन स्व और पर दोनों के विघातक होते हैं। वे किस प्रकार उभय-विघातक हैं, यह तथ्य यहाँ अनेकानेक उदाहरणों द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। जिनमें विवेक मूलतः है ही नहीं या लुप्त हो गया है, जो हित-अहित या अर्थ-अनर्थ का समीचीन विचार नहीं कर सकते, ऐसे लोग कभी-कभी स्वार्थ अथवा क्षुद्र-से स्वार्थ के लिए प्रगाढ़ पापकर्मों का संचय कर लेते हैं। शिकारियों को हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि बतलाते हैं-अर्थात् अमुक स्थान पर भरपूर शिकार करने योग्य पशु मिलेंगे ऐसा सिखलाते हैं। शिकारी वहाँ जाकर उन पशुओं का घात करते हैं। इसी प्रकार चिड़ीमारों को पक्षियों का पता बताते हैं, मच्छीमारों को मछलियों आदि जलचर जीवों के स्थान एवं घात का उपाय बतलाकर प्रसन्न होते हैं। चोरों, डाकुओं, जेबकतरों आदि को चोरी आदि के स्थान-उपाय आदि बतलाते हैं। आजकल जेब काटना सिखाने के लिए अनेक नगरों में प्रशिक्षण शालाएँ चलती हैं, ऐसा सुना जाता है। कोई-कोई कैदियों को अधिक से अधिक यातनाएँ देने की शिक्षा देते हैं। कोई मधुमक्खियों को पीड़ा पहुँचाकर, उनका छत्ता तोड़कर उसमें से मधु निकालना सिखलाते हैं। तात्पर्य यह है कि विवेक विकल लोग अनेक प्रकार से ऐसे वचनों का प्रयोग करते हैं, जो हिंसा आदि अनर्थों के कारण हैं और हिंसाकारी वचन मृषावाद में ही गर्भित हैं, भले ही वे निःस्वार्थ भाव से बोले जाये। अतः सत्य के उपासकों को अनर्थकर वचनों से बचना चाहिए। ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे आरंभ-समारंभ आदि को उत्तेजना मिले या हिंसा हो।

55-जंताइं विसाइं मूलकम्मं आहे वण-अविंधण-आभिओ ग-
मंतोसहिप्पओगेचोरिय-परदार-पमण-बहुपावकम्मकरणं उक्खंधे गामघाइयाओ वणदहण-
तलागभेयणाणिबुद्धिविसविणासणाणिवसीकरणमाइयाइं भय-मरण-
किलेसदोसजणणाणिभावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूयधाओवधाइयाइं सच्चाइं वि ताइं

हिंसगाईं वयणाईं उदाहरंति।

55-मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए (लिखित) यंत्रों या पशु-पक्षियों को पकड़ने वाले यंत्रों, संखिया आदि विषों, गर्भपात आदि के लिए जड़ी-बूटियों के प्रयोग, मंत्र आदि द्वारा नगर में क्षोभ या विद्वेष उत्पन्न कर देने अथवा मंत्रबल से धनादि खींचने, द्रव्य और भाव से वशीकरण मंत्रों एवं औषधियों के प्रयोग करने, चोरी, परस्त्रीगमन करने आदि के बहुत-से पापकर्मों के उपदेश तथा छल से शत्रुसेना की शक्ति को नष्ट करने अथवा उसे कुचल देने के, जंगल में आग लगा देने, तालाब आदि जलाशयों को सुखा देने के, ग्रामघात-गाँव को नष्ट कर देने के, बुद्धि के विषय-विज्ञान आदि अथवा बुद्धि एवं स्पर्श, रस आदि विषयों के विनाश के, वशीकरण आदि के, भय, मरण, क्लेश और दुःख उत्पन्न करने वाले, अतीव संक्लेश होने के कारण मलिन, जीवों का घात और उपघात करने वाले वचन तथ्य (यथार्थ) होने पर भी प्राणियों का घात करने वाले होने से असत्य वचन, मृषावादी बोलते हैं।

विवेचन-पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि वस्तुतः सत्य वचन वही कहा जाता है जो हिंसा का पोषक, हिंसा का जनक अथवा किसी भी प्राणी को कष्टदायक न हो। जो वचन तथ्य तो हो किन्तु हिंसाकारक हो, वह सत्य की परिभाषा में परिगणित नहीं होता। अतएव सत्य की शरण ग्रहण रहने वाले सत्पुरुषों को अतथ्य के साथ तथ्य असत्य वचनों का भी त्याग करना आवश्यक है। सत्यवादी की वाणी अमृतमयी होनी चाहिए, विष वमन करने वाली नहीं। उससे किसी का अकल्याण न हो। इसीलिए कहा गया है-

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य के साथ प्रिय वचनों का प्रयोग करना चाहिए। अप्रिय सत्य का प्रयोग असत्य-प्रयोग के समान ही त्याज्य है।

इस तथ्य को सूत्रकार ने यहाँ स्पष्ट किया है। साथ ही प्राणियों का उपघात करने वाली भाषा का विवरण भी दिया है। यथा-मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि के प्रयोग बतलाकर किसी का अनिष्ट करना, चोरी एवं परस्त्रीगमन संबंधी उपाय बतलाना, ग्रामघात की विधि बतलाना, जंगल को जलाने का उपदेश देना आदि। ऐसे समस्त वचन हिंसोत्तेजक अथवा हिंसाजनक होने के कारण विवेकवान् पुरुषों के लिए त्याज्य है।

हिंसक उपदेश-आदेश

56-अन्य प्राणियों को संताप-पीड़ा प्रदान करने में प्रवृत्त, अविचारपूर्वक भाषण करने वाले लोग किसी के पूछने पर और (कभी-कभी) बिना पूछे ही सहसा (अपनी पटुता प्रकट करने के लिए) दूसरों को इस प्रकार का उपदेश देते हैं कि-ऊँटों को, बैल को और गवयों-रोझों को दमो-इनका दमन करो। वयःप्राप्त-परिणत आयु वाले इन अश्वों को, हाथियों को, भेड़-बकरियों को या मुर्गों को खरीदो खरीदवाओ, इन्हें बेच दो, पकाने योग्य वस्तुओं को पकाओ स्वजन को दे दो, पेय-मदिरा आदि पीने योग्य पदार्थों का पान करो। दासी, दास-नौकर, भृतक-भोजन देकर रखे जाने वाले सेवक, भागीदार, शिष्य, कर्मकर-कर्म करने वाले-नियत समय तक आज्ञा पालने वाले, किंकर-क्या करूँ? इस प्रकार पूछकर कार्य करने वाले, ये सब प्रकार के कर्मचारी तथा ये स्वजन और परिजन क्यों-कैसे (निकम्मे-निढल्ले) बैठे हुए हैं! ये भरण-पोषण करने योग्य है अर्थात् इनका वेतन आदि चुका देना चाहिए। ये आपका काम करें। ये सघन वन, खेत, बिना जोती हुई भूमि, वल्लर-विशिष्ट प्रकार के खेत, जो उगे हुए घास-फूस से भरे हैं, इन्हें जला डालो, घास कटवाओ या उखड़वा डालो, यंत्रों-घानी गाड़ी आदि भांड-कुंडे आदि उपकरणों के लिए और नाना प्रकार के प्रयोजनों के लिए वृक्षों को कटवाओ, इक्षु-ईख-गन्नों को कटवाओ, तिलों को पेलो-इनका तेल निकालो, मेरा घर बनाने के लिए ईंटों को पकाओ, खेतों को जोतो अथवा जुतवाओ, जल्दी-से ग्राम, आकर (खानों वाली वस्ती) नगर, खेड़ा और कर्वट-कुनगर आदि को बसाओ। अटवी-प्रदेश में विस्तृत सीमा वाले गाँव आदि बसाओ। पुष्पों और फलों को तथा प्राप्त काल अर्थात् जिनको तोड़ने या ग्रहण करने का समय हो चुका है, ऐसे कंदों और मूलों को ग्रहण करो। अपने परिजनों के लिए इनका संचय करो। शाली-धान, ब्रीहि-अनाज आदि और जौ को काट लो। इन्हें मलो अर्थात् मसल कर दाने अलग कर लो। पवन से साफ करो-दानों को भूसे से पृथक् करो और शीघ्र कोठार में भर लो-डाल लो।

विवेचन-प्रस्तुत पाठ में अनेकानेक सावद्य कार्यों के आदेश और उपदेश का उल्लेख किया गया है और यह प्रतिपादन किया गया है कि विवेकविहीन जन किसी के पूछने पर अथवा न पूछने पर भी, अपने स्वार्थ के लिए अथवा बिना स्वार्थ भी केवल अपनी चतुरता, व्यवहारकुशलता और प्रौढ़ता प्रकट करने के लिए दूसरों को ऐसा आदेश-उपदेश दिया करते हैं, जिससे अनेक प्राणियों को पीड़ा उपजे, परिताप पहुँचे,

उनकी हिंसा हो, विविध प्रकार आरंभ-समारंभ हो।

अनेक लोग इस प्रकार के वचन-प्रयोग में कोई दोष ही नहीं समझते। अतएव वे निश्चिंत होकर ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसे अज्ञ प्राणियों को वास्तविकता समझाने के लिए सूत्रकार ने इतने विस्तार से इन अलीक वचनों का उल्लेख किया और आगे भी करेंगे।

यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि सूत्र में निर्दिष्ट वचनों के अतिरिक्त भी इसी प्रकार के अन्य वचन, जो पापकार्य के आदेश, उपदेश के रूप में हो अथवा परपीडाकारी हो, वे सभी मृषावाद से गर्भित हैं। ऐसे कार्य इतने अधिक और विविध हैं कि सभी का मूल पाठ में संग्रह नहीं किया जा सकता। इन निर्दिष्ट कार्यों को उपलक्षण-दिशादर्शकमात्र समझना चाहिए। इनको भलीभाँति समझकर अपने विवेक की कसौटी पर कसकर और सदबुद्धि की तराजू पर तोलकर ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो स्व-पर के लिए हितकारक हो, जिससे किसी को आघात-संताप उत्पन्न न हो और जो हिंसा-कार्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सहायक न हो।

सर्वविरति के आराधक साधु-साध्वी तो ऐसे वचनों से पूर्ण रूप से बचते ही हैं, किन्तु देशविरति के आराधक श्रावकों एवं श्राविकाओं को भी ऐसे निरर्थक वाद से सदैव बचने की सावधानी रखनी चाहिए। आगे भी ऐसे ही त्याज्य वचनों का उल्लेख किया जा रहा है।

57-छोटे, मध्यम और बड़े नौकादल या नौका व्यापारियों या नौका यात्रियों के समूह को नष्ट कर दो, सेना (युद्धादि के लिए) प्रयाण करे, संग्राम भूमि में जाए, घोर युद्ध प्रारंभ हो, गाड़ी और नौका आदि वाहन चले, उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार, चोलक-शिशु का मुण्डन संस्कार, विवाह संस्कार, यज्ञ-ये सब कार्य अमुक दिनों में, वालव आदि करणों में, अमृतसिद्धि आदि मुहूर्तों में, अश्विनी पुष्य आदि नक्षत्रों में और नंदा आदि तिथियों में होने चाहिए। आज स्नान-सौभाग्य के लिए स्नान करना चाहिए अथवा सौभाग्य एवं समृद्धि के लिए प्रमोद-स्नान कराना चाहिए-आज प्रमोदपूर्वक बहुत विपुल मात्रा में खाद्य पदार्थों एवं मदिरा आदि पेय पदार्थों के भोज के साथ सौभाग्य वृद्धि अथवा पुत्रादि की प्राप्ति के लिए वधू आदि को स्नान कराओ तथा (डोरा बाँधना आदि) कौतुक करो। सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण और अशुभ स्वप्न के फल को निवारण करने के लिए विविध मंत्रादि से संस्कारित जल से स्नान और शांति कर्म करो। अपने कुटुम्बीजनों की अथवा अपने जीवन की रक्षा के लिए कृत्रिम-आटे

आदि से बनाये हुए प्रतिशीर्षक (सिर) चण्डी आदि देवियों की भेंट चढ़ाओ। अनेक प्रकार की औषधियों, मद्य, माँस, मिष्ठान्न, अन्न, पान, पुष्पमाला, चंदन-लेपन, उवटन, दीपक, सुगंधित धूप, पुष्पों तथा फलों से परिपूर्ण विधिपूर्वक बकरा आदि पशुओं के सिरों की बलि दो। विविध प्रकार की हिंसा करके अशुभ-सूचक उत्पात, प्रकृति विकार, दुःस्वप्न, अपशकुन, क्रूरग्रहों के प्रकोप, अमंगल सूचक अंगस्फुरण-भुजा आदि अवयवों का फड़कना, आदि के फल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट-समाप्त कर दो। किसी को कुछ भी दान मत दो। वह मारा गया, यह अच्छा हुआ। उसे काट डाला गया, यह ठीक हुआ। उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये, यह अच्छा हुआ।

इस प्रकार किसी के न पूछने पर भी आदेश-उपदेश अथवा कथन करते हुए, मन-वचन-काय से मिथ्या आचरण करने वाले अनार्य, अकुशल, मिथ्यामतों का अनुसरण करने वाले मिथ्या भाषण करते हैं। ऐसे मिथ्याधर्म में निरत लोग मिथ्या कथाओं में रमण करते हुए, नाना प्रकार से असत्य का सेवन करके संतोष का अनुभव करते हैं।

विवेचन-कर्तव्य और अकर्तव्य एवं हित और अहित के विवेक से रहित होने के कारण अकुशल, पापमय क्रियाओं का आदेश-उपदेश करने के कारण अनार्य एवं मिथ्याशास्त्रों के अनुसार चलने वाले, उन पर आस्था रखने वाले मृषावादी लोग असत्य भाषण करने में आनंद अनुभव करते हैं, असत्य को प्रोत्साहन देते हैं और ऐसा करके दूसरों को भ्रांति में डालने के साथ-साथ अपनी आत्मा को अधोगति का पात्र बनाते हैं।

पूर्व वर्णित पापमय उपदेश के समान प्रस्तुत पाठ में भी कई ऐसे कर्मों का उल्लेख किया गया है जो लोक में प्रचलित हैं और जिनमें हिंसा होती है। उदाहरणार्थ-युद्ध संबंधी आदेश-उपदेश स्पष्ट ही हिंसामय है। नौकादल को डुबा देना-नष्ट करना, सेना को सुसज्जित करना, उसे युद्ध के मैदान में भेजना आदि। इसी प्रकार देवी-देवताओं के आगे बकरा आदि की बलि देना भी एकांत हिंसामय कुकृत्य है। कई अज्ञान ऐसा मानते हैं कि जीवित बकरे या भैंसे की बलि चढ़ाने में पाप है पर आटे के पिण्ड से उसी की आकृति बनाकर बलि देने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु यह क्रिया भी घोर हिंसा का कारण होती है। कृत्रिम बकरे में बकरे का संकल्प होता है, अतएव उसका वध बकरे के वध के समान ही पापोत्पादक है। जैनागमों में प्रसिद्ध कालू

कसाई का उदाहरण भी यही सिद्ध करता है, जो अपने शरीर के मैल से भैसे बनाकर-मैल के पिण्डों में भैसों का संकल्प करके उनका उपमर्दन करता था। परिणाम स्वरूप उसे नरक का अतिथि बनना पड़ा था।

प्रस्तुत पाठ से यह भी प्रतीत होता है कि आजकल की भाँति प्राचीन काल में भी अनेक प्रकार की अंधश्रद्धा-लोकमूढ़ता प्रचलित थी। ऐसी अनेक अंधश्रद्धाओं का उल्लेख यहाँ किया गया है।

शान्तिकर्म, होम, स्नान, यज्ञ आदि का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि आरंभ-समारंभ-हिंसा को उत्तेजन देने वाला प्रत्येक वचन, भले ही वह तथ्य हो या अतथ्य, मृषावाद में ही परिगणित है। अतएव सत्यवादी सत्पुरुष को अपने सत्य की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हिंसाजनक अथवा हिंसाविधायक वचनों का भी परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसके सत्य भाषण का संकल्प टिक सकता है-उसका निरतिचाररूपेण परिपालन हो सकता है।

मृषावाद का भयानक फल

58-तस्य य अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिण्ण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधयारे भमंति भीमे दुग्गइवसहिमुवगया। ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परवस्सा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिया फुडियच्छवि-बीभच्छ-विवण्णा, खरफरुसवित्तज्झामज्झूसिरा, णिच्छया, लल्लविफलवाया, असक्कय-मसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिण्णघोसा विहिंसा जडबहिरंधया य मम्मणा अकंतविकयकरणा, णीया णीयजणिसेविणो लोयगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेस्सा दुम्मेहा लोय-वेय-अज्जप्पसमयसुइवज्जिया, णरा धम्मबुद्धिवियला।

अलिण्ण य तेणं पडज्झमाणा असंतण्ण य अवमाणणपिट्ठिमंसाहिक्खेव-पिसुण-भेयण-गुरुबंधव-सयण-मित्तवक्खारणाइयाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावेति अमणोरमाइं हि ययमणदूमगाइं जावज्जीवं दुरुद्धराइं अणिट्ठ-खरफरुसवयण-तज्जाण-णिब्भच्छणदीणवयणविमला कुभोयणा कुवाससा कुवसहीसु किलिस्संता णेव सुहं णेव णिव्वुइं उवलभंति अच्चंत-विउलदुक्खसयसंपलिता।

58-पूर्वोक्त मिथ्याभाषण के फल-विपाक से अनजान वे मृषावादी जन नरक और तिर्यच योनि की वृद्धि करते हैं, जो अत्यंत भयंकर हैं, जिनमें विश्रामरहित-निरंतर-लगातार वेदना भुगतनी पड़ती है और जो दीर्घकाल तक बहुत दुःखों से

परिपूर्ण है। (नरक-तिर्यच योनियों में लंबे समय तक घोर दुःखों का अनुभव करके शेष रहे कर्मों को भोगने के लिए) वे मृषावाद में निरत-लीन नर भयंकर पुनर्भव के अंधकार में भटकते हैं। उस पुनर्भव में भी दुर्गति प्राप्त करते हैं, जिसका अंत बड़ी कठिनाई से होता है। वे मृषावादी मनुष्य पुनर्भव (इस भव) में भी पराधीन होकर जीवन यापन करते हैं। वे अर्थ और भोगों से परिवर्जित होते हैं अर्थात् उन्हें न तो भोगोपभोग का साधन अर्थ (धन) प्राप्त होता है और न वे मनोज्ञ भोगोपभोग ही प्राप्त कर सकते हैं। वे (सदा) दुःखी रहते हैं। उनकी चमड़ी बिवाई, दाद, खुजली आदि से फटी रहती है, वे भयानक दिखाई देते हैं और विवर्ण-कुरूप होते हैं। कठोर स्पर्श वाले, रतिविहीन-बेचैन, मलीन एवं सारहीन शरीर वाले होते हैं। शोभाकांति से रहित होते हैं। वे अस्पष्ट और विफल वाणी वाले होते हैं अर्थात् न तो स्पष्ट उच्चारण कर सकते हैं और न उनकी वाणी सफल होती है। वे संस्काररहित (गँवार) और सत्कार से रहित होते हैं-उनका कही सन्मान नहीं होता। वे दुर्गंध से व्याप्त, विशिष्ट चेतना से विहीन, अभागे, अकांत-अनिच्छनीय-अकमनीय, काक के समान अनिष्ट स्वर वाले, धीमी और फटी हुई आवाज वाले, विहिंस्य-दूसरों के द्वारा विशेष रूप से सताये जाने वाले, जड़, वधिर, अंधे, गूँगे और अस्पष्ट उच्चारण करने वाले-तोतली बोली बोलने वाले, अमनोज्ञ तथा विकृत इन्द्रियों वाले, जाति, कुल, गोत्र तथा कार्यों से नीच होते हैं। उन्हें नीच लोगों को सेवक-दास बनना पड़ता है। वे लोक में गर्हा के पात्र होते हैं-सर्वत्र निन्दा एवं धिक्कार प्राप्त करते हैं। वे भृत्य-चाकर होते हैं और असदृश-असमान-विरुद्ध आचार-विचार वाले लोगों के आज्ञापालक या द्वेषपात्र होते हैं। वे दुर्बुद्धि होते हैं अतः लौकिक शास्त्र-महाभारत, रामायण आदि, वेद-ऋग्वेद आदि, आध्यात्मिक शास्त्र-कर्मग्रंथ तथा समय-आगमों या सिद्धांतों के श्रवण एवं ज्ञान से रहित होते हैं। वे धर्मबुद्धि से रहित होते हैं।

उस अशुभ या अनुपशांत असत्य की अग्नि से जलते हुए वे मृषावादी अपमान, पीठ पीछे होने वाली निंदा, आक्षेप-दोषारोपण, चुगली, परस्पर की फूट अथवा प्रेम संबंधों का भंग आदि की स्थिति प्राप्त करते हैं। गुरुजनों, बंधु-बांधवों, स्वजनों तथा मित्रजनों के तीक्ष्ण वचनों से अनादर पाते हैं। अमनोरम, हृदय और मन को संताप देने वाले तथा जीवन पर्यंत कठिनाई से मिटने वाले-जिनका प्रतीकार संपूर्ण जीवन में भी कठिनाई से हो सके या न हो सके ऐसे अनेक प्रकार के मिथ्या आरोपों को वे प्राप्त करते हैं। अनिष्ट-अप्रिय, तीक्ष्ण, कठोर और मर्मवेधी वचनों से तर्जना, झिड़कियों

और धिक्कार-तिरस्कार के कारण दीन मुख एवं खिन्न चित्त वाले होते हैं। वे खराब भोजन वाले और मैले-कुचेले तथा फटे वस्त्रों वाले होते हैं, अर्थात् मृषावाद के परिणामस्वरूप उन्हें न अच्छा भोजन प्राप्त होता है, न पहनने-ओढ़ने के लिए अच्छे वस्त्र ही नसीब होते हैं। उन्हें निकृष्ट बस्ती में क्लेश पाते हुए अत्यंत एवं विपुल दुःखों की अग्नि में जलना पड़ता है। उन्हें न तो शारीरिक सुख प्राप्त होता है और न मानसिक शांति ही मिलती है।

विवेचन-यहाँ मृषावाद के दुष्फल का लोमहर्षक चित्र उपस्थित किया गया है। प्रारंभ में कहा गया है कि मृषावाद के फल को नहीं जानने वाले अज्ञान जन मिथ्या भाषण करते हैं। वास्तव में जिनको असत्य भाषण के यहाँ प्ररूपित फल का वास्तविक ज्ञान नहीं है अथवा जो जानकर भी उस पर पूर्ण प्रतीति नहीं करते, वे भी अनजान की श्रेणी में ही परिगणित होते हैं।

हिंसा का फल-विपाक बतलाते हुए शास्त्रकार ने नरक और तिर्यच गति में प्राप्त होने वाले दुःखों का विस्तार से निरूपण किया है। मृषावाद का फल ही दीर्घकाल तक नरक और तिर्यच गतियों में रहकर अनेकानेक भयानक दुःखों को भोगना बतलाया गया है। अतः यहाँ भी पूर्व वर्णित दुःखों को समझ लेना चाहिए।

असत्य भाषण को साधारण जन सामान्य या हल्का दोष मानते हैं और साधारण-सी स्वार्थसिद्धि के लिए, दूसरों को धोखा देने के लिए, क्रोध से प्रेरित होकर, लोभ के वशीभूत होकर, भय के कारण अथवा हास्य-विनोद में लीन होकर असत्य भाषण करते हैं। उन्हें इसके दुष्परिणाम की चिंता नहीं होती। शास्त्रकार ने यहाँ बतलाया है कि मृषावाद का फल इतना गुरुतर एवं भयंकर होता है कि नरक गति और तिर्यच गति के भयानक कष्टों को दीर्घ काल पर्यंत भोगने के पश्चात् भी उनसे पिण्ड नहीं छूटता। उसका फल जो शेष रह जाता है उसके प्रभाव से मृषावादी जब मनुष्य गति में उत्पन्न होता है तब भी वह अत्यंत दुरवस्था का भागी होता है। दीनता, दरिद्रता उसका पीछा नहीं छोड़ती। सुख-साधन उसे प्राप्त नहीं होते। उनका शरीर कुरूप, फटी चमड़ी वाला, दाद, खाज, फोड़ों-फुंसियों से व्याप्त रहता है। उनके शरीर से दुर्गंध फूटती है। उन्हें देखते ही दूसरों को ग्लानि होती है।

मृषावादी की बोली अस्पष्ट होती है। वे सही उच्चारण नहीं कर पाते। उनमें से कई तो गूँगे ही होते हैं। उनका भाषण अप्रिय, अनिष्ट और अरुचिकर होता है।

उनका न कहीं सत्कार-सन्मान होता है, न कोई आदर करता है। काक

सरीखा अप्रीतिजनक उनका स्वर सुनकर लोग घृणा करते हैं। वे सर्वत्र ताड़ना-तर्जना के भागी होते हैं। मनुष्य भव पाकर भी वे अत्यंत अधम अवस्था में रहते हैं। जो उनसे भी अधम हैं, उन्हें उनकी दासता करनी पड़ती है। रहने के लिए खराब बस्ती, खाने के लिए खराब भोजन और पहनने के लिए गंदे एवं फटे-पुराने कपड़े मिलते हैं।

तात्पर्य यह कि मृषावाद का फल-विपाक अतीव कष्टप्रद होता है और अनेक भवों में उसे भुगतना पड़ता है। मृषावादी नरक-तिर्यच गतियों की दारुण वेदनाओं को भोगने के पश्चात् जब मानव योनि में आता है, तब भी सर्व प्रकार से दुःखी ही रहता है। शारीरिक और मानसिक क्लेश उसे निरंतर अशांत एवं आकुल-व्याकुल बनाये रखते हैं। उस पर अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे दोषारोपण किए जाते हैं, जिनके कारण वह घोर संताप की ज्वालाओं में निरंतर जलता रहता है।

इस प्रकार का मृषावाद का कटुक फल-विपाक जानकर विवेकवान् पुरुषों को असत्य से विरत होना चाहिए।

फल-विपाक की भयंकरता

59 (क)-एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कओ असाओ वास-सहस्सेहिं मुच्चइ, ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोति।

एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसि य अलियवयणस्स फलविवागं।

59 (क)-मृषावाद का यह (पूर्वोक्त) इस लोक और परलोक संबंधी फल विपाक है। इस फल-विपाक में सुख का अभाव है और दुःखों की ही बहुलता है। यह अत्यंत भयानक है और प्रगाढ कर्म-रज के बंध का कारण है। यह दारुण है, कर्कश है और असाता रूप है। सहस्रों वर्षों में इससे छुटकारा मिलता है। फल को भोगे बिना इस पाप से मुक्ति नहीं मिलती-इसका फल भोगना ही पड़ता है।

ज्ञातकुलनंदन, महान् आत्मा वीरवर महावीर नामक जिनेश्वर देव ने मृषावाद का यह फल प्रतिपादित किया है।

विवेचन-प्रस्तुत पाठ में मृषावाद के कटुक फल-विपाक का उपसंहार करते हुए तीन बातों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है-

1. असत्य भाषण का जो पहले और यहाँ फल निरूपित किया गया है, वह

सूत्रकार ने स्वकीय मनीषा से नहीं निरूपित किया है किन्तु ज्ञातकुलनन्दन भगवान् महावीर जिनके द्वारा प्ररूपित है। यह लिखकर शास्त्रकार ने इस समग्र कथन की प्रामाणिकता प्रकट की है। भगवान् के लिए 'जिन' विशेषण का प्रयोग किया गया है। जिनका अर्थ है-वीतराग-राग-द्वेष आदि विकारों के विजेता। जिसने पूर्ण वीतरागता-जिनत्व-प्राप्त कर लिया है, वे अवश्य ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। इस प्रकार वीतराग और सर्वज्ञ की वाणी एकांततः सत्य ही होती है, उसमें असत्य की आशंका हो ही नहीं सकती। क्योंकि कषाय और अज्ञान ही मिथ्या भाषण के कारण होते हैं-या तो वास्तविक ज्ञान न होने से असत्य भाषण होता है, अथवा किसी कषाय से प्रेरित होकर मनुष्य असत्य भाषण करता है। जिसमें सर्वज्ञता होने से अज्ञान नहीं है और वीतरागता होने से कषाय का लेश भी नहीं है, उनके वचनों में असत्य की संभावना भी नहीं की जा सकती। आगम में इसीलिए कहा है-

तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेइयं।

अर्थात् जिनेन्द्रों ने जो कहा है वही सत्य है और उस कथन में शंका के लिए कुछ भी स्थान नहीं है।

इस प्रकार यहाँ प्रतिपादित मृषावाद के फल-विपाक को पूर्णरूपेण वास्तविक समझना चाहिए।

2. सूत्रकार ने दूसरा तथ्य यह प्रकट किया है कि मृषावाद के फल को सहस्रों वर्षों तक भोगना पड़ता है। यहाँ मूल पाठ में 'वाससहस्सेहिं' पद का प्रयोग किया गया है। यह पद यहाँ दीर्घ काल का वाचक समझना चाहिए। जैसे 'मुहुत्तं' शब्द स्तोक काल का भी वाचक होता है, वैसे ही 'वाससहस्सेहिं' पद लंबे समय का वाचक है। अथवा 'सहस्र' शब्द में बहुवचन का प्रयोग करके सूत्रकार ने दीर्घकालिक फलभोग का अभिप्राय प्रकट किया है।

3. तीसरा तथ्य यहाँ फल की अवश्यमेव उपभोग्यता कही है। असत्य भाषण का दारुण दुःखमय फल भोगे बिना जीव को उससे छूटकारा नहीं मिलता। क्योंकि वह विपाक 'बहुरयप्पगाढो' होता है, अर्थात् अलीक भाषण से जिन कर्मों का बंध होता है, वे बहुत गाढे चिकने होते हैं, अतएव विपाकोदय से भोगने पड़ते हैं।

यों तो कोई भी बद्ध कर्म भोगे बिना नहीं निर्जीर्ण होता-छूटता। विपाक द्वारा अथवा प्रदेशों द्वारा उसे भोगना ही पड़ता है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो केवल प्रदेशों से उदय में आकर ही निर्जीर्ण हो जाते हैं, उनके विपाक-फल का अनुभव नहीं होता। किन्तु गाढ रूप में बद्ध कर्म विपाक द्वारा ही भोगने पड़ते हैं। असत्य भाषण एक

घोर पाप है और जब वह तीव्रभाव से किया जाता है तो गाढ कर्मबंध का कारण होता है। उसे भोगना ही पड़ता है।

उपसंहार

59 (ख)-एयं तं बिईयं पि अलियवयणं लहुसग-लहु-चवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकरं अरइ-रइ-राग-दोस-मणसकिलेस-वियरणं अलिय-णियडि-साइजोगबहुलं णीयजणणसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारणं परम-साहुगरहणिज्जं परपीलाकारणं परमकण्हेस्ससहियं दुग्गइ-विणिवाय-वड्डुणं पुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं।

59 (ख)-यह दूसरा अधर्म द्वार-मृषावाद है। छोटे-तुच्छ और चंचल प्रकृति के लोग इसका प्रयोग करते-बोलते हैं अर्थात् महान् एवं गंभीर स्वभाव वाले मृषावाद का सेवन नहीं करते। यह मृषावाद भयंकर है, दुःखकर है, अपयशकर है, वैरकर-वैर का कारण-जनक है। अरति, रति, राग-द्वेष एवं मानसिक संक्लेश को उत्पन्न करने वाला है। यह झूठ, निष्फल कपट और अविश्वास की बहुलता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशंस-निर्दय एवं निर्घृण है। अविश्वास कारक है-मृषावादी के कथन पर कोई विश्वास नहीं करता। परम साधुजनों-श्रेष्ठ सत्पुरुषों द्वारा निंदनीय है। दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाला और परम कृष्ण लेश्या से संयुक्त है। दुर्गति-अधोगति में निपात का कारण है, अर्थात् असत्य भाषण से अधःपतन होता है, पुनः-पुनः जन्म-मरण का कारण है, अर्थात् भव-भवान्तर का परिवर्तन करने वाला है। चिरकाल से परिचित है-अनादि काल से लोग इसका सेवन कर रहे हैं, अतएव अनुगत है-उनके साथ चिपटा है। इसका अंत कठिनता से होता है अथवा इसका परिणाम दुःखमय ही होता है। (प्रश्नव्याकरणसूत्र)

अधिक ज्ञानी साधु व कम ज्ञानी साधु परस्पर निन्दा न करे

(अधिक ज्ञानी साधु कम ज्ञानी साधु की निन्दा न करे तथा कम ज्ञानी साधु अधिक ज्ञानी की निन्दा न करे)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की....., सायोनारा....., छोटी-छोटी गैया.....)

निन्दा न करे कोई किसी की...अधिक ज्ञानी भी कम ज्ञानी की...

निन्दा तो अधार्मिक काम है...निन्दा प्रवृत्ति न होती साधु की...

निन्दा में होते हैं राग-द्वेष-मोह...ईर्ष्या-घृणा रूपी असमता भाव...

ये सब भाव हैं अधार्मिक भाव...साधु के योग्य न होते ये भाव...(1)...

समता साधक होते हैं श्रमण...जीवन-मरण में जो रखते साम्य...

लाभ-अलाभ संयोग-वियोग में...शत्रु-मित्र व सुख-दुःख में...

समता हेतु ही त्याग-तपस्या...व्रत-नियम व ध्यान-अध्ययन...

परीषह जय व उपसर्ग सहन...समता हेतु ही सभी हैं साधन...(2)...

समता बिना तप-त्याग आदि से...नहीं होते संवर व निर्जरण...

आत्म-विशुद्धि भी नहीं होती है...नहीं मिल सकता है परिनिर्वाण...

अधिक ज्ञानी जो होते हैं श्रमण...अधिक साम्य होता तदनुसारेण...

वे न कर सकते निन्दा के परिणाम...उच्च परिणाम से होते ज्ञानी श्रमण...(3)...

अतः वे न निन्दा करते अन्य की...हीनाधिक ज्ञानी अन्य साधु की...

वे तो स्व-निन्दा-गर्हादि करके...आत्म विशुद्धि हेतु तत्पर रहते...

जो श्रमण होते हैं न्यून/(कम) ज्ञानी...वे तो ज्ञान को बढ़ाना चाहते...

इसीलिए वे ज्ञान व ज्ञानी की...विनय-बहुमान-प्रशंसा करते...(4)...

उपगृहन स्थितिकरण अंग युक्त...वात्सल्य सहित प्रभावना करते...

निन्दा से ये अंग भी नष्ट होते...नीच गोत्र आदि पाप भी बंधते...

निन्दा से वाद-विवाद-कलह होते...वैर-विरोध व फूट भी होते...

संघ-समाज का अपमान भी होता...शालीनता-मर्यादा का भंग भी होता...(5)...

अन्य लोग भी इसका लाभ उठाते...अपमान व निन्दा अनादर करते...

विभिन्न प्रकार भी क्षति पहुँचाते...अतः 'कनक' निन्दा से दूर रहते...(6)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 14.02.2016, रात्रि 8.26

संदर्भ-

(बहुशास्त्रज्ञों को कम शास्त्रज्ञ साधुओं का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए और न अल्पज्ञ साधुओं को बहुशास्त्रज्ञों का दोष ग्रहण करना चाहिए। ऐसा ही हर व्यक्तियों के लिए जान लेना चाहिए, क्योंकि राग-द्वेष-छिद्रान्वेषण-निन्दा करना अधर्म/पाप है।)-प्रवचनसार

संदर्भ-

चम्मट्टिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिंदिट्ठो।

जह तह पापिट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठो सगीयट्ठो।। (111) (रयणसार)

जैसे चर्म, माँस, हड्डी खाने का लोभी कुत्ता दूसरे कुत्तों को देखकर गर्जन करता है वैसे ही दुरात्मा धर्मात्मा को, मुनिराजों को देखकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करता है।

श्रमणों का अनादर करने वाला चारित्र भ्रष्ट है

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।

किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ट चारित्तो।। (265) प्र.सार

Seeing an ascetic abiding by the injunctions of the scripture, he, who ridicules him through malice and is unwilling to do these reverential duties (unto him), ruins him conduct.

अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोष दर्शयति- (अववददि) अपवदति दूषयत्यपवादं करोति। सःकः? (जो हि) यः कर्ता हि स्फुटम्। कम्? (समणं) श्रमणं तपोधनम्। कथंभूतम्? (सासणत्थं) शासनस्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम्। कस्मात्? (पदोसदो) निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् प्रद्वेषात्कषायात्। किं कृत्वा पूर्वम्? (दिट्ठा) दृष्ट्वा अपवदते। न केवलं अपवदते? (णाणुमण्णदि) नानुमन्यते। कासु विषयासु। (किरियासु) यथायोग्यं वन्दनादिक्रियासु (हवदि हि सो) भवति हि स्फुटं सः। किंविशिष्टः? (णट्टचारित्तो) कथंचिदतिप्रसंगान्नष्टचारित्रो भवतीति। तथाहि- मार्गस्थतपोधनं दृष्ट्वा यदि कथंचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहणं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं पश्चादात्मनिंदां कृत्वा वर्त्तते तदा दोषो नास्ति कालान्तरे वा निवर्त्तते तथापि दोषो नास्ति? यदि पुनस्तत्रै-वानुबन्धं कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसंगं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीत्ययं भावार्थः। बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनानां दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनैः किमपि पाठमात्रं गृहीत्वा तेषां दोषो न ग्राह्यः किन्तु किमपि सारपदं गृहीत्वा स्वयं भावनैव कर्त्तव्या। कस्मादिति चेत्? रागद्वेषोत्पत्तौ सत्यां बहुश्रुतानां श्रुतफलं नास्ति तपोधनानां तपः फलं चेति।

जो कोई साधु दूसरे साधु को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग में चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्मा की भावना से विलक्षण द्वेष व कषाय से उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्यों में अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षा से मर्यादा के उल्लंघन करने से चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय मार्ग में स्थित साधु को देखकर ईर्ष्या भाव से दोष ग्रहण

करे तो वह प्रगटपने से चारित्र भ्रष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निंदा करके उस भाव को छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल पीछे इस भाव को त्यागता है तो भी उसका दोष नहीं रहता है, परन्तु यदि इसी ही भाव को दृढ़ करता हुआ तीव्र कषाय भाव से मर्यादा को उल्लंघन कर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है। यहाँ यह भावार्थ है। बहुत शास्त्र ज्ञाताओं को थोड़े शास्त्रज्ञाता साधुओं का दोष नहीं ग्रहण करना चाहिए और न अल्पशास्त्री साधुओं को उचित है कि थोड़ा-सा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओं का दोष ग्रहण करे किन्तु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वयं शुद्ध स्वरूप की भावना ही करनी चाहिए क्योंकि राग-द्वेष के पैदा होते हुए न बहुत शास्त्र-ज्ञाताओं को शास्त्र का फल होता है, न तपस्वियों को तप का फल होता है।

यहाँ शिष्य ने कहा कि आपने अपवाद मार्ग के व्याख्यान के समय शुभोपयोग का वर्णन किया अब यहाँ फिर किस लिए उसका व्याख्यान किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहाँ पर सर्वत्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्यान को करके फिर असमर्थ साधुओं को काल की अपेक्षा से कुछ भी ज्ञान, संयम व शौच का उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्यान की मुख्यता है। यहाँ तो जैसे भेदनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तरूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेदनय से सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप से दो प्रकार की होती है। इनमें भी और अभेदनय से एक ही वीतराग चारित्र रूप आराधना होती है तैसे ही भेदनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप से तीन प्रकार मोक्षमार्ग है सो ही अभेदनय से एक श्रमणपना नाम का मोक्षमार्ग है जिसका अभेदरूप से मुख्य कथन “एयग्गदो समणो” इत्यादि चौदह गाथाओं में पहले ही किया गया यहाँ मुख्यता से उसी का भेदरूप से शुभोपयोग के लक्षण को कहते हुए व्याख्यान किया गया इसमें कोई पुनरुक्ति का दोष नहीं है।

समीक्षा—कुंदकुंद दवे ने इस गाथा में स्पष्ट किया कि जो श्रमण को देखकर उसका यथायोग्य विनय नहीं करता है तो वह भ्रष्ट चारित्र है क्योंकि चारित्रधारी के अविनय से चारित्र का भी अविनय होता है और जो चारित्र का अविनय करता है उसका चारित्र से भ्रष्ट होना स्वाभाविक है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है-

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान गर्विताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।। पृ. 65

उपर्युक्त मद से गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय रूप धर्म में स्थित अन्य जीवों को तिरस्कृत करता है वह अपने धर्म को तिरस्कृत करता है क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।

ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकार के मदों का वर्णन किया गया है उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय रूप धर्म में स्थित अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है-अवज्ञा के द्वारा उनका उल्लंघन करता है वह जिनेन्द्र प्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रय का पालन करने वाले धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है।

‘न धर्मो धार्मिकैर्विना’ अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं रहता है यह सिद्धांत बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सिद्धांत है गुण-गुणी, धर्म-धर्मी प्रदेशत्व की अपेक्षा अभिन्न होने के कारण एक के अभाव से दूसरे का भी अभाव हो जाता है। इसलिए जो गुणी की अवमानना, अपमान करता है वह गुण की भी अवमानना करता है जैसे अग्नि की उष्णता को मिटाने पर अग्नि ही मिट जाती है अथवा अग्नि को मिटाने पर उष्णता भी मिट जाती है उसी प्रकार धर्मी की अवमानना से धर्म का अपमान होता है। इसलिए तो आचार्यश्री ने कहा ‘‘जो चारित्र धारी का अपमान करता है वह चारित्र भ्रष्ट है।’’ दर्शन पाहुड में कुंदकुंद देव ने कहा भी है-

सहजुष्णणं स्वं ददुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।

सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवए एसो।। (24) पृ. 42

जो स्वाभाविक नग्न रूप को देखकर उसे नहीं मानता है, उल्टा ईर्ष्या भाव रखता है वह संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है।

अमराण वंदियाणं रूवं ददूण सीलसहियाणं।

जो गारवं करंति यह सम्मत्तविवज्जिया होंति।। (25)

जो देवों से वंदित तथा शील से सहित तीर्थंकर परमदेव के (द्वारा आचरित मुनियों के नग्न) रूप को देखकर गर्व करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते।

अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे।। पृ. 44

जो गुरु को नहीं मानते हैं, और न उनकी उपासना करते हैं उनके सूर्योदय होने पर भी अंधकार बना रहता है (यहाँ मिथ्यात्व को अंधकार कहा है। सूर्योदय होने पर लोक का बाह्य अंधकार नष्ट हो सकता है पर मिथ्यात्व रूप अभ्यंतर अंधकार नष्ट नहीं हो सकता। उसे नष्ट करने के लिए सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय की आवश्यकता रहती है और वह तब तक नहीं हो सकता जब तक नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी निर्ग्रथ गुरुओं के प्रति आस्था नहीं होती।)

कुछ व्यक्ति पंचम काल में भावलिंगी साधु नहीं होते हैं ऐसा मानकर वे निर्ग्रथ श्रमणों का भी आदर, विनय, सेवा, भक्ति नहीं करते हैं वे श्रमणों को द्रव्यलिंगी ढोंगी, पाखण्डी मानते हैं एवं ऐसा ही प्रचार करते हैं। यदि पूर्ण पंचम काल में मुनि नहीं होते हैं ऐसा माना जावे तो पंचमकाल में होने वाले धरसेन, कुंदकुंद, उमास्वामी, पूज्यपाद, अमृतचंद सूरी आदि संपूर्ण आचार्य भी मिथ्यादृष्टि हो जायेंगे। इतना ही नहीं आगम में जो पाया जाता है कि “पंचम काल के अंतिम समय तक भावलिंगी मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका का सद्भाव रहेगा” ऐसा आगम वचन भी मिथ्या हो जायेगा। दर्शनसार में देवसेन आचार्य ने कहा है-

पंचमकालवसाणे सिच्छंताणं विणासो हि। (47) पृ. 20

पंचम काल के अंत में सच्चे शिक्षक मुनियों का नाश हो जायेगा।

एक्यो वि य मूलगुणो वीरंगजणामओ जई होई।

सो अप्पसुदो वि परं वीरोव्व जणं पवोहेइ।। (48)

केवल एक ही वीरंगज नाम का यति या साधु मूलगुणों का धारी होगा, जो अल्पश्रुत (शास्त्रों का थोड़ा ज्ञान रखने वाला) होकर भी वीर भगवान् के समान लोगों को उपदेश देगा। कुंदकुंद देव ने मोक्षपाहुड में कहा है कि जो स्वयं रागी-द्वेषी, मोही, विषय लोलुपी होकर भी मानता है कि इस काल में न ध्यान होता है, न कोई मुनि होता है, तो वह स्वयं पक्का मिथ्यादृष्टि है। यथा-

भावेण होई णग्गो मिच्छत्ताई य दोष चइऊणं।

पच्छ देव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए।। (73) पृ. 404

मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से नग्न होता है, पीछे जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार द्रव्य से लिंग प्रकट करता है-नग्न वेष धारण करता है।

भाव तथा द्रव्य दोनों लिंगों का धारक मुनि स्वर्ग और मोक्ष संबंधी सुखों का

भाजन होता है तथा भावलिंग से रहित पापी मुनि कर्मरूपी मल से मलिन चित्त होता हुआ तिर्यच गति का पात्र होता है।

विद्याधर देव और मनुष्यों की हस्तांजलियों के समूह से जिसकी अच्छी तरह स्तुति की गई है ऐसी चक्रवर्ती तथा अन्य राजाओं की भारी लक्ष्मी तो इस जीव के द्वारा कई बार प्राप्त की जाती है परन्तु भव्य जीवों के द्वारा स्तुत रत्नत्रय की लक्ष्मी प्राप्त नहीं की जाती अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।

पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो।। (76)

जिसकी मान कषाय गल चुकी है, जिसके मिथ्यात्व और मोह नष्ट हो चुके हैं तथा जिसका चित्त समता भाव को प्राप्त हुआ है ऐसा जीव ही जिनशासन में त्रिलोक श्रेष्ठ बोधि-रत्नत्रय रूप विभूति को प्राप्त होता है।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।

तं अप्प सहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।। (76)

भारत क्षेत्र में दुःषम नामक पंचम काल में मुनि के धर्म-ध्यान होता है तथा वह धर्म-ध्यान आत्म स्वभाव में स्थित साधु के होता है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है।

अज्ज वि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।

लयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।। (77)

आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकांतिक देवों के पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। रयणसार में भी उपर्युक्त सिद्धांत का ही प्रतिपादन किया है। यथा-

अज्जवसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमाद रहियमिदि।

जिणुद्धिट्ठं णहुमण्णइ मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।। (60) पृ. 133

आज इस समय भरत क्षेत्र में दुस्सम पंचमकाल में धर्मध्यान प्रमाद रहित होता है इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने कहा है। जो इसे नहीं मानता है वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है। तत्त्वसार में भावसेन आचार्य ने कहा भी है-

संकाकंखा गहिया विसय वसत्था सुमग्गयब्भट्टा।

एवं भणंति केई णहु कालो होई झाणस्स।। (14)

संदेहशील विषय सुख के प्रेमी भोगों में आसक्त एवं विषय भोगों में अपना हित मानने वाले जिनेन्द्र प्रणीत रत्नत्रय रूपी सुमार्ग से भ्रष्ट कितने ही इस प्रकार कहते हैं कि वर्तमान पंचमकाल ध्यान योग्य काल नहीं है, इस काल में मोक्ष नहीं है, ध्यान भी नहीं होता है यदि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तो मुनि होकर क्या करना है। पूर्वोक्त समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं-

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं।

तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं।। (15)

आज भी इस पंचम काल में रत्नत्रयधारी मुनि आत्मा का ध्यान कर स्वर्ग लोक जा सकते हैं वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव कुल में जन्म लेकर मुनि होकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं।

माइल्ल धवल ने “द्रव्य स्वभाव प्रकाशक” में इसका निर्णय करते हैं। यथा-
मज्झिम जहाणुक्कस्सा सराय इव वीयराय सामग्गी।

तम्हा सुद्धचरित्तं पंचमकाले वि देसदो अत्थि।। (344)

जिस प्रकार सरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते हैं। अतः एकदेश वीतराग चारित्र पंचमकाल में भी होता है।

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा।

धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां।। (83)

श्री जिनेन्द्र भगवान् ने इस पंचमकाल में यहाँ पर भरत क्षेत्र में शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम-क्षपक श्रेणी से नीचे रहने वालों को धर्मध्यान होना बतलाया है। सोमदेव सूरी ने भी कहा है-

काले कलौ चले चित्ते देहे चात्रादिकीटके।

एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।। (339) (पृ. 253 यशस्ति. II)

इस दुःषमा नामक पंचमकाल में जब मानवों का मन चंचल रहता है और शरीर अन्न का भक्षक कीड़ा बना रहता है, यह आश्चर्य है कि आज भी जिनेन्द्र की मुद्रा के धारक साधु महापुरुष पाये जाते हैं।

यथापूज्यं जिनेन्द्राणां रूप लेपादि निर्मितम्।

तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः।। (340)

जैसे पाषाण वगैरह से निर्मित जिनबिम्ब पूज्य है वैसे ही वर्तमान के मुनि भी,

जिनमें पूर्व मुनियों की सदृशता पाई जाती है, पूज्य है।

उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पंचमकाल में भी साधु भावलिङ्गी श्रमण होते हैं। ऐसे श्रमणों को स्थविर कल्पी कहते हैं। वर्तमान काल में उत्तम संहनन, उत्तम क्षेत्र, उत्तम भाव, उत्तम काल के अभाव से तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान् के समान जिनकल्पी नहीं होते हैं तथापि इस विपरीत परिस्थिति में जो निर्ग्रन्थ श्रमण बनते हैं वे महान् धन्य हैं। भावसंग्रह में कहा भी है-

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण।

पुर णयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया।। (127) पृ. 70

इस दुःषम काल में शरीर के संहनन बलवान नहीं होते, इसलिए वे मुनि किसी नगर-गाँव वा किसी पुर में रहते हैं और अपने तपश्चरण के प्रभाव से स्थविरकल्पी कहलाते हैं।

उवयरण तं गहियं जेण ण भंगो हवे चरियस्स।

गहियं पुत्थयदाणम् जोग्गं जस्स तां तेण।। (128)

वे मुनि अपने उपकरण भी ऐसे रखते हैं जिनसे किसी प्रकार के चारित्र का भंग न होता हो तथा वे मुनि अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार किसी के द्वारा दिए हुए शास्त्र वा पुस्तक भी ग्रहण कर लेते हैं।

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।

भवियाणं धम्मसवणं सिस्साणं य पालणं गहणं।। (129)

इस पंचम काल में वे स्थविर कल्पी मुनि समुदाय रूप से विहार करते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हैं, भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते हैं तथा शिष्यों को ग्रहण करते हैं और उनका पालन करते हैं।

संहणणं अइण्णिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।

तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण-उच्छहिया।।

पहले समय में जिन कर्मों को मुनि लोग अपने शरीर से हजार (1000) वर्ष में नष्ट करते थे उन्हीं कर्मों को आज कल के स्थविर कल्पी मुनि अपने हीन संहनन से ही एक (1) वर्ष में ही क्षय कर डाल सकते हैं।

एवं पुविहो कप्पो परम जिणदेहि अक्खियो णूणं।

अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरिकलिओ।। (132)

इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देव ने जिनकल्प और स्थविर कल्प ऐसे दो प्रकार के मुनि बतलाये हैं। इन दो प्रकार के मुनियों के सिवाय जो वस्त्र आदि परिग्रहों से परिपूर्ण गृहस्थ कल्प की कल्पना की है वह पाखंडियों ने की है ऐसे गृहस्थ कल्प की कल्पना भगवान् जिनेन्द्र देव ने नहीं बतलाई है।

परन्तु विशेष ध्यान योग्य विषय यह है कि जैन धर्म की धारा पंचम काल के अंत तक अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी। अतः स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इस अवधि में भी धार्मिक व्यक्ति होते रहेंगे भले उनकी संख्या एवं मात्रा कम क्यों न हो। इस विपरीत काल में भी जो व्यक्ति सच्चे हृदय से धर्म पालन करेंगे वे अत्यंत महान् हैं। क्योंकि अनुकूल स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल है परन्तु प्रतिकूल स्रोत में खेकर ले जाना दुष्कर है इसलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि चतुर्थ काल की 1000 वर्ष की तपस्या के बराबर पंचम काल की 1 वर्ष की तपस्या है। अर्थात् चतुर्थ काल में जिस धर्म कार्य को करने से जितना फल मिलता था वर्तमान में उस धर्म कार्य का एक सहस्रांश करने पर वही फल मिलेगा। इसलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है-

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।

निस्तीर्थेश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्ययः।।

त्रुट्यच्छेत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।

श्री जिनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यतम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है, विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य हैं। इस प्रकार विपरीत (विषम) कलियुग में भी श्री जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यंत अभिवंदनीय, अभिनंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

उपर्युक्त विषयों से ज्ञात होता है कि पंचम काल में भी सम्यग्दृष्टि गुण सम्पन्न श्रमण होते हैं और उनके आराधक श्रावक एवं अविरत सम्यग्दृष्टि जैन होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं वे निशंकादि अष्ट अंग, भक्ति आदि अष्टगुण से सहित होते हैं। इन गुणों के कारण ही वे पहचाने जाते हैं। चारित्र पाहुड में कुदकुंद देव ने कहा भी है-

वच्छल्लंविणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।

मगगणगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य।। (10) पृ. 70

एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहतो जिणसम्मत्तं अमोहेण॥ (11)

अमोह-मोह रहित अथवा अमोघ यानि सफल जन्म का धारक मनुष्य वात्सल्य, विनय, उत्तम दान देने में समर्थ अनुकंपा, मोक्षमार्ग के गुणों की प्रशंसा, उपगूहन, स्थितिकरण और अकुटिल परिणाम, इन लक्षणों के द्वारा जिन प्रतिपादित सम्यक्त्व की आराधना करने वाले पुरुष को पहिचानते हैं।

उच्छाहभावणा संपसंसेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुब्बंतो णाणमग्गेण॥ (13)

जो ज्ञान-मार्ग अर्थात् सम्यग्ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व-चरण में उत्साह रखता है उसी की भावना करता है, आत्मा के शरीर और कर्म से पृथक् समझता है, अर्हत् आदि की स्तुति करता है, सुगुरु आदि की सेवा करता है और सम्यग्दर्शन में रूचि रखता है वह जिन सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है।

(1) दोषमेव समाधत्ते न गुणं विगुणो जनः।

जलौकाः स्तनसंपृक्तः रक्तं पिबति नामृतम्॥ (247)

(सम्यक्त्व कौमुदी)

निर्गुण मनुष्य दोष को ग्रहण करता है गुण को नहीं, क्योंकि स्तन पर लगी हुई जोंक रक्त ही ग्रहण करती है दूध नहीं।

(2) न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वथ वर्णयेत्।

तथा कुर्वन् प्रजायेत नीचगोत्रान्वितः पुमान्॥ (460)

(सम्यक्त्व कौमुदी)

दूसरे के विद्यमान गुणों को नष्ट नहीं करना चाहिए और न अपने अविद्यमान गुणों का वर्णन करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने वाला मनुष्य नीच गोत्र से युक्त होता है।

